कल्कि अवतार
अथवा
कलियुग का अन्त
— सुदर्शन सिंह 'चक्र'
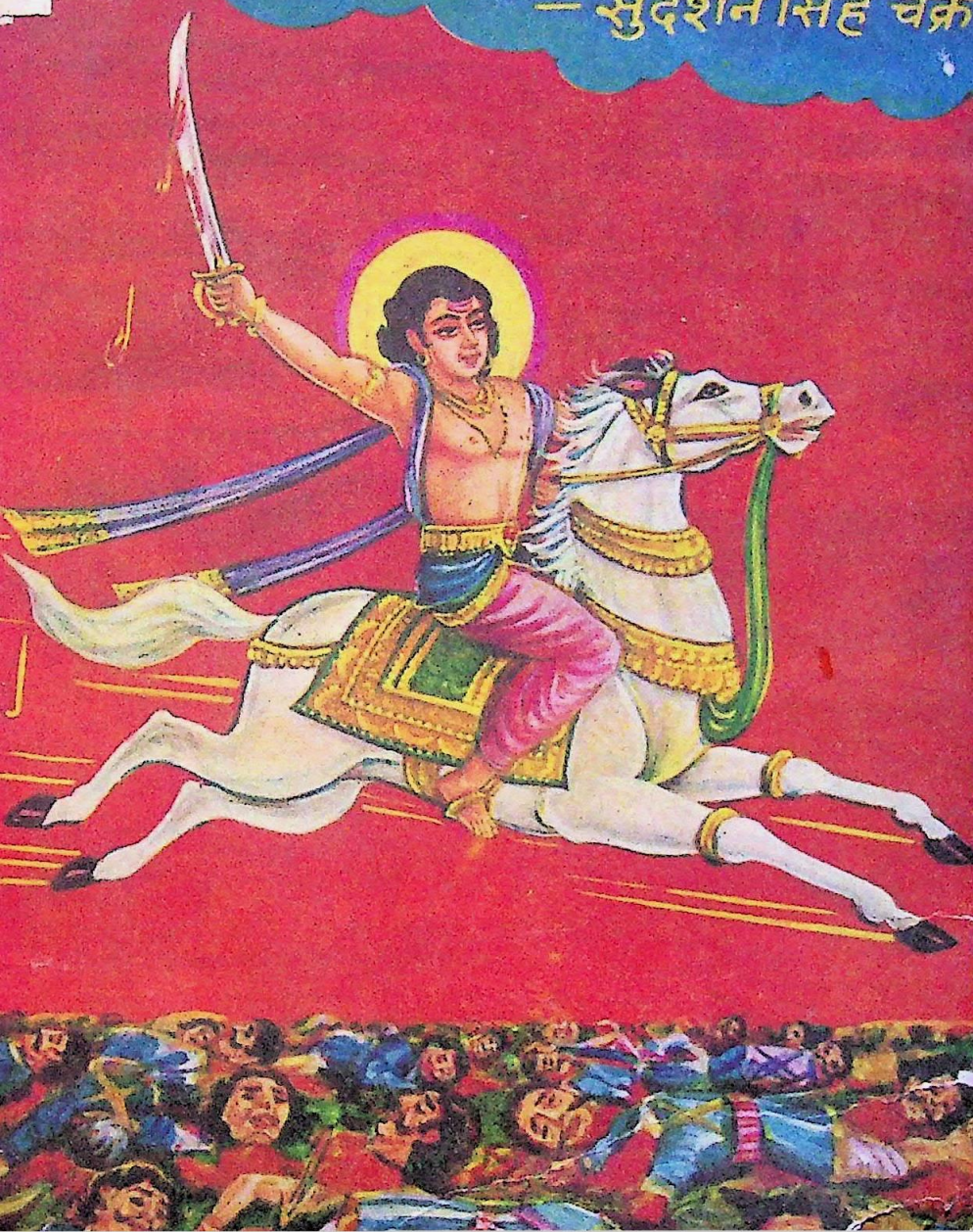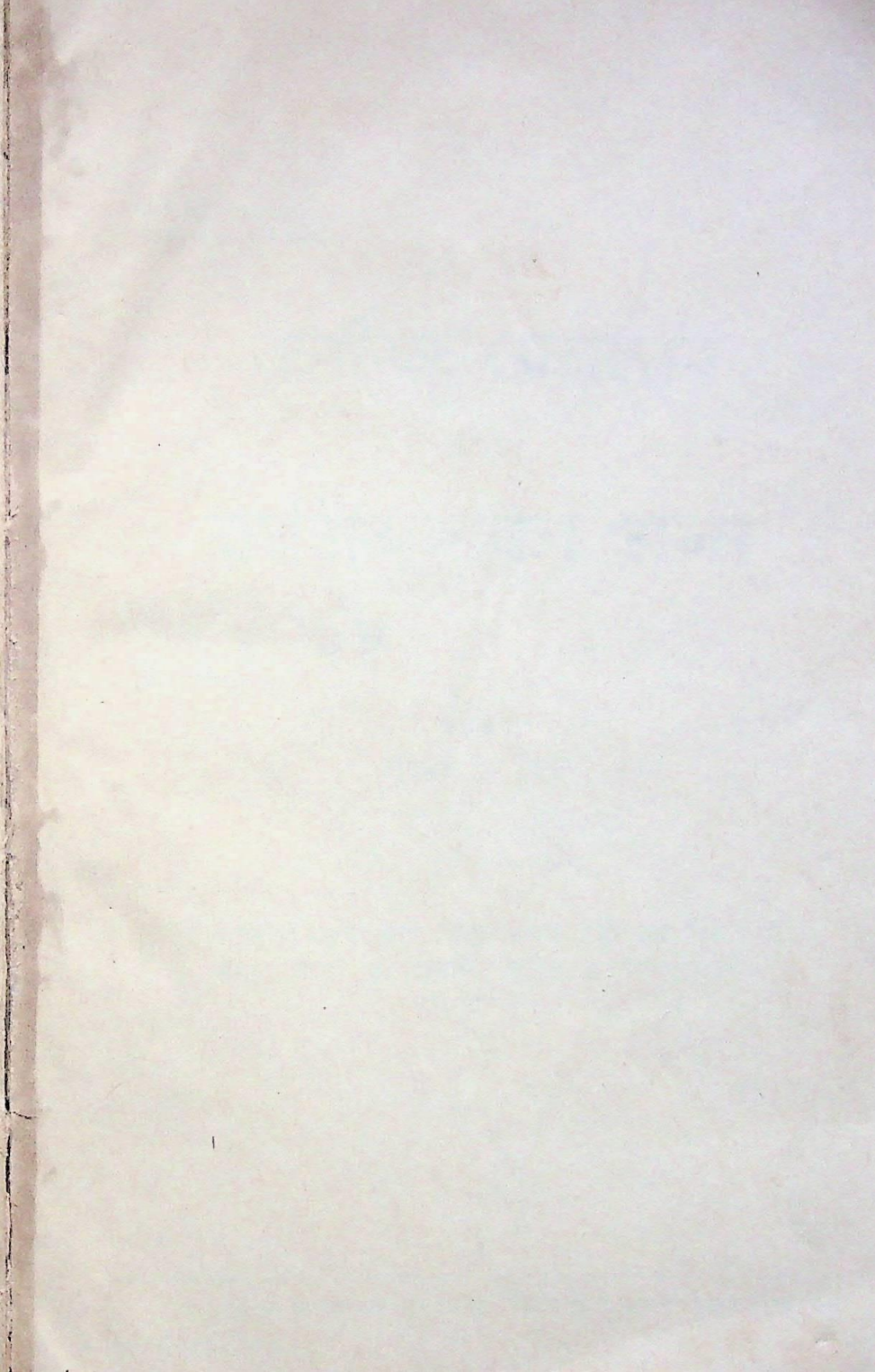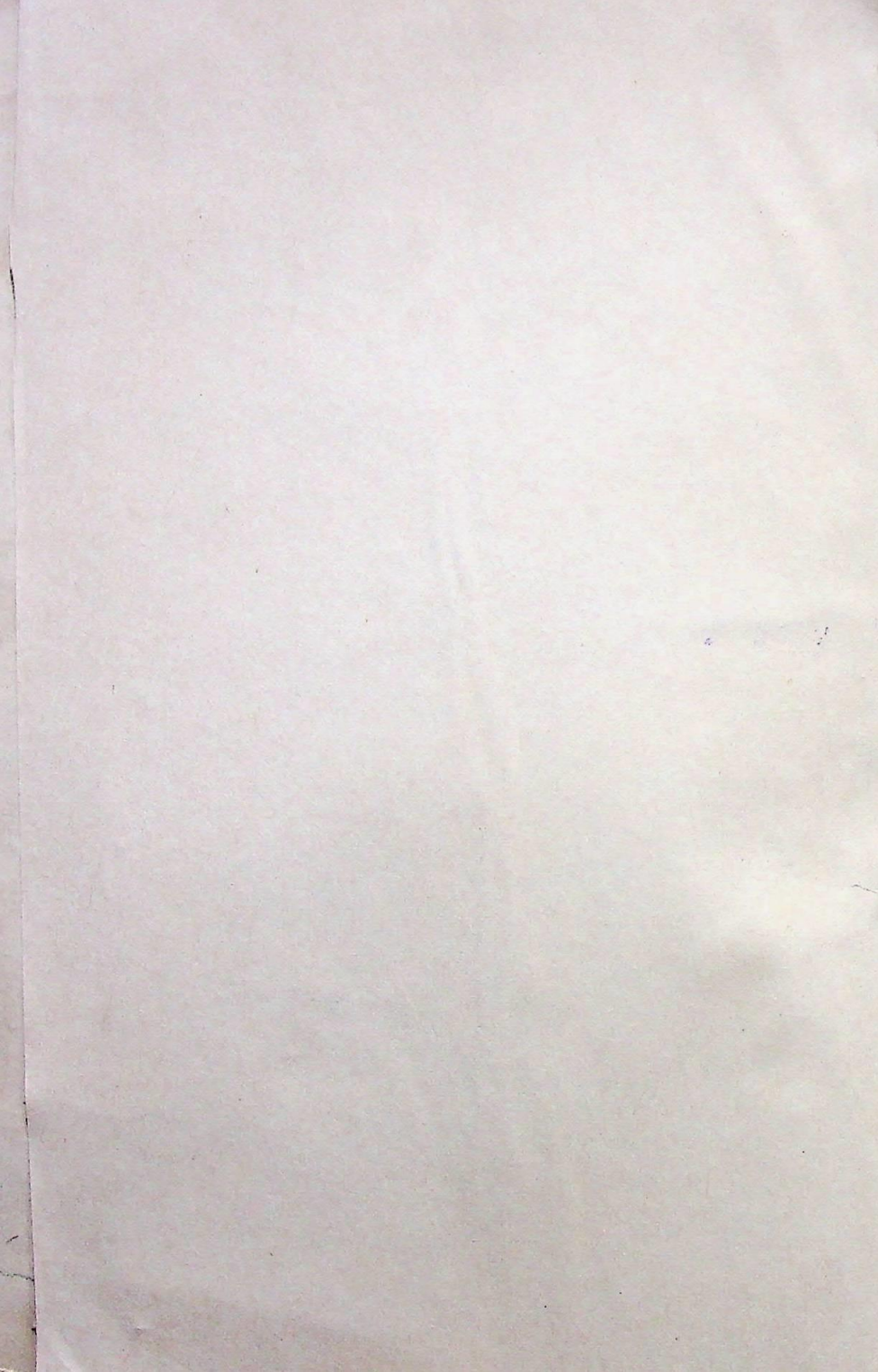
पौराणिक उपन्यास—

कल्कि-अवतार

अथवा

कलियुगका अन्त

लेखक :
सुदर्शनसिंह 'चक्र'

यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्यपर प्रदत्त कागजपर मुद्रित-प्रकाशित है।

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण जन्मस्थान-सेवा-संस्थान

मथुरा-२८१ ००१

तिथि
१-२-८२ ई० } प्रथम संस्करण
२२०० प्रतियां { मूल्य : ८-००

मुद्रक :

मयूर प्रेस

बद्रीनगर, दरेसी रोड, मथुरा.

फोन–१२९६

अनुक्रमणिका

धर्म सम्राट अनन्त श्री विभूषित

पूज्य स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज

का

आशीर्वाद

श्रीचक्रजीकी सख्य-भक्ति निष्ठा तथा ब्रह्मात्म प्रतिपत्ति निष्ठाका प्रभाव उनके समस्त लेखों एवं पुस्तकोंपर है। विषय प्रतिपादनकी शैली इतनी अच्छी है कि पाठकोंका मन पढ़ते समय भ्रमित नहीं होता। उनकी वासुदेव, द्वारकाधीश, शत्रुघ्नकुमार, शिवचरित, श्रीरामचरित और नन्द-नन्दन आदि सभी पुस्तकें परमोपयोगी शिक्षाप्रद और ज्ञानभक्तिप्रद हैं। उन सभी पुस्तकोंको पढ़नेसे कठोर हृदयमें भी भक्तिद्रवता आये बिना नहीं रहेगी।

कल्किअवतार अथवा कलियुगका अन्त पुस्तक अत्यन्त रोचक एवं महत्वपूर्ण है। कलियुगकी परिस्थितियोंका विश्लेषण पूर्ण तथा विवेक, वैराग्य एवं भक्तिरसका वर्धक है। चक्रजीने अपनी कल्पना शक्तिके द्वारा कलियुगकी जिन परिस्थितियोंका चित्रण किया है, यह मानवके लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है।

पुस्तक समाजके लिये परमोपयोगी सिद्ध होगी ऐसी मुझे आशा है। मैं लेखकके उज्ज्वल भविष्यकी कामना करता हूँ।

विघ्न-हरण पदकंज, वन्दन बारम्बार कर ॥
चाहौं बुद्धि अमन्द, गणनायक वरदानिवर ॥

× × ×

वीणापाणि वरदे ! अन्तर उज्ज्वल कर दे ।
आवे कलित कृष्णकी क्रीड़ा,
भले कल्कि,
इसमें क्या व्रीड़ा ॥
भव्य भावना भर दे !

अपनी बात

अचानक प्रिय श्रीविष्णुहरि डालमियाने सुझाव दिया—'सर्वसमर्थ भगवान्ने कलियुग बनाया ही क्यों ? और अभी ही समाजकी, जन-मानसकी यह अवस्था है, जबकि कलियुगके केवल लगभग पाँच सहस्र वर्ष बीते हैं। आप सब कहते हैं कि कलियुगकी आयु कई लाख (चार लाख बत्तीस हजार) वर्ष है। अन्तिम वर्षोंमें तो बहुत अधिक—पता नहीं कितनी दुरवस्था होगी। उसके पश्चात् सहसा सतयुग कैसे आ जायगा, इस सबको समझा जा सके ऐसी कोई पुस्तक लिखिये।'

'यह मेरा विषय नहीं है।' मैंने अस्वीकार किया; किन्तु वे आग्रह करते रहे। अन्ततः मैंने 'विचार करूँगा' कहकर उस समय पिण्ड छुड़ाया।

श्रीविष्णुहरिके आग्रहका कारण था। मैंने उसी समय 'अमृतपुत्र' पूरा किया था। उसकी पाण्डुलिपि भाई श्रीजयदयाल डालमियाने पढ़ ली थी और उनके कहनेसे उनके ज्येष्ठ पुत्र विष्णुहरिको पढ़नेको दिया था। 'अमृत-पुत्र' में अनेक लोकोंका वर्णन है और सतयुग, त्रेता, द्वापरके समाजका भी; किन्तु कलियुगका वर्णन बहुत कम है। कठिनाईसे ईस्ट इण्डिया कम्पनीके कालतकका। अतः कलियुगके अन्तिम समयके सम्बन्धमें उनकी जिज्ञासा स्वाभाविक थी।

मैंने 'विचार करूँगा' कहा था; किन्तु मनमें शीघ्र ही इस पुस्तककी रूपरेखा आकार लेने लग गयी। अतः 'पलक झपकते' पूरा करके इसमें लग गया।

पहला उपन्यास मैंने लिखा था, 'शत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा'; किन्तु उसे और 'आञ्जनेयकी आत्मकथा' को भी पाठकोंने उपन्यास स्वीकार ही नहीं किया। केवल शैलीके कारण कोई उपन्यास नहीं हो जाता। वे दोनों ही चरित हैं, इसे अस्वीकार ही नहीं किया जा सकता।

पुराणोंके विद्वान् सम्भवको भी प्रमाण मानते हैं। घटना हुई हो या न हुई हो, देश-काल-स्थितिको देखते वैसा होना सम्भव हो तो उसे प्रामाणिक मान लेते हैं। इस सम्भव प्रमाणने मेरे दो उपन्यास समेट लिये। 'प्रभु आवत'

और 'वे मिलेंगे' इन दोनोंकी घटनाएँ काल्पनिक तो हैं; किन्तु उन परिस्थितियोंमें उन पात्रोंके मनमें वैसे ही भाव उठने सम्भव हैं। अतएव पाठक इन दोनों पुस्तकोंको पढ़ते भी उनको तथ्यात्मक ही मानता है। 'राक्षसराज' तो चरित है ही।

उपन्यास है—'अमृतपुत्र' और 'पलक झपकते' भी। इनमें 'अमृतपुत्र' देशका वर्णन करनेके लिए है और 'पलक झपकते' कालका वर्णन करता है। मुझसे जैसे किसीने बलपूर्वक 'अमृतपुत्र' लिखवाया हो। उसे लिखते समय ही कालको भी स्पष्ट करनेकी आवश्यकता प्रतीत हो गयी थी। दोनोंमें कथानक तो कल्पित ही हैं। लेकिन दोनों पुराणोंमें वर्णित तथ्यको प्रकट करनेके लिए हैं। अधिक श्रद्धालु उन्हें भी सम्भव प्रमाणके भीतर समेट ले सकते हैं।

पूरे अर्थमें कल्पित उपन्यास यह है। इसलिये भी पूर्णतः कल्पित है; क्योंकि इसकी घटनाएँ आजसे लगभग चार लाख सत्ताइस हजार वर्ष आगेके सम्बन्धकी हैं। पुराणोंके अनुसार ये सम्भव भी होंगी तो भी इनके होनेमें अभी यह लम्बा काल पड़ा है।

पुराणोंके अनुसार कलियुगके अन्तमें सम्भलग्राममें कल्कि अवतार होगा। भगवान् परशुरामसे अस्त्र-शिक्षा प्राप्त करके 'देवदत्त' अप्रतिम अश्वपर आरोहण करके कल्कि करोड़ों दस्युओंका केवल तलवारसे संहार करेंगे। उसके अनन्तर सतयुग प्रारम्भ होगा।

इस समय दो 'सम्भलपुर' हैं। एक उत्तरप्रदेशके मुरादाबाद जिलेमें और दूसरा उड़ीसामें। तीसरा भी कोई हो तो मुझे पता नहीं है। मुझे तो कल्पना ही करनी थी, अतः मैंने उत्कलके सम्भलपुरको कल्किका आविर्भाव-स्थल न मानकर उत्तरप्रदेशके मुरादाबाद जिलेके सम्भलपुरको माना; क्योंकि पहले भी प्रमुख अवतारोंकी प्रादुर्भाव-स्थली उत्तरप्रदेश ही रहा है।

श्रीमद्भागवतमें आया है (९।१२।१५-१६) कि कलियुगके अन्तमें नष्ट हुए सूर्यवंशकी फिरसे प्रतिष्ठा इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न अग्निवर्णके पौत्र, शीघ्रके पुत्र महाराज मरु करेंगे और चन्द्रवंशकी प्रतिष्ठा ऋष्यके पौत्र, दिलीपके पुत्र महाराज प्रतीप करेंगे (९।२२।११ से १८)। ये प्रतीपजी भीष्मपितामहके पिता शन्तनुजीके ज्येष्ठ भ्राता हैं। अभी ये दोनों हिमालयके मानवके लिए अदृश्य, अप्रवेश्य दिव्यस्थल कलापग्राममें तपोनिरत हैं।

अभी इस वैवस्वत मन्वन्तरकी यह अट्ठाइसवीं चतुर्युगी चल रही है। इस मन्वन्तरके सप्तर्षि हैं—कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज (भागवत ८।१३।५)। अगले मन्वन्तरके सप्तर्षियोंके नाम भी वहीं (८।१३।१५-१६ में) दिये गये हैं। वे हैं—गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यश्रृङ्ग और श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास।

अगले मन्वन्तरको आनेमें अभी तैंतालीस चतुर्युगीका अन्तर है। अतः इस कलियुगके अन्तमें कोई प्रलय नहीं होनी है। प्रलय मन्वन्तरके अन्तमें होती है। कलियुगके पश्चात् सतयुग जैसे इस मन्वन्तरमें पीछे अट्ठाइस बार आ चुका है, आगे भी आवेगा।

आगामी मन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें-से परशुराम, अश्वत्थामा और कृपाचार्य प्रख्यात योद्धा रहे हैं। अतः भगवान् कल्किको इनका सहयोग इनके अनुरूप ही मिलेगा। गालव, दीप्तिमान् और ऋष्यश्रृङ्ग शान्त तपस्वी रहे हैं। अतः श्रीकृष्णद्वैपायनके साथ ये समाजकी सुव्यवस्थामें सहयोग करेंगे, यह समझा जा सकता है।

इस प्रकार कलियुगके पश्चात् सतयुगकी स्थापनामें दो प्रकारके व्यक्तित्व पुराणोंसे प्राप्त होते हैं—१. संहारक, २. व्यवस्थापक। इनमें भगवान् कल्किका कार्य 'महासंहार' कहा गया है। यह भी कहा गया है कि परशुरामजी उनके अस्त्र-शिक्षक आचार्य होंगे। अतः अश्वत्थामा और कृपाचार्यको भी उनके महासंहारके सहयोगियोंमें माना जा सकता है।

व्यवस्था और वंश-स्थापनके दो महानायक पुराणने सूचित किये हैं—महाराज मरु और महाराज प्रतीप। इनको भी आचार्यकी, निर्देशककी आवश्यकता होगी। गालव, दीप्तिमान् और ऋष्यश्रृङ्ग शान्त तपस्वी हैं, अतः ये श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासके समान शास्त्रकर्ताके नेतृत्वमें इन दोनों महानायकोंको सहयोग दे सकते हैं। साथ ही इन दोनोंको संरक्षण भी चाहिये; क्योंकि परशुराम और अश्वत्थामा-जैसे अत्युग्र संहारकोंका नेतृत्व जब उनसे भी उग्र कल्कि करने लगें तो उनके आवेशपर अंकुशकी भी आवश्यकता होगी।

इस पृष्ठभूमिके साथ एक तथ्य और विचारणीय है। इधर वर्षोंसे भारतमें भी और बाहर भी ऐसे अनेक प्रख्यात व्यक्ति हुए हैं, जो महाविनाशकी भविष्यवाणियाँ करते रहे हैं। इनमें सिद्ध पुरुष भी हुए हैं और ज्योतिषी भी; ऐसे सम्प्रदाय-प्रवर्तक भी, जो यह घोषित करते रहे हैं कि

केवल उनके अनुगामी उस महासंहारमें बचेंगे। कुछ भविष्यवाणियाँ तो इतने आसन्न भविष्यकी थीं कि उनका समय कभीका बीत चुका। अधिकांश सन् ८२ के आस-पासके सम्बन्धमें हैं।

मनुष्यका अन्तःकरण संस्कार-शून्य नहीं होता। अतः वह आगेके सम्बन्धमें कुछ सोचता या कहता है तो उसके भविष्य-दर्शनपर उसके अपने संस्कारोंका प्रभाव पड़ा होता है। सूर्य-किरणोंका प्रकाश तो आता है, किन्तु सबके नेत्रोंपर रंगीन चश्मे हों तो प्रकाश चश्मेके रंगका लगेगा। शुद्धान्तः-करणमें भविष्य-दर्शन तो होता है, किन्तु अन्तःकरणके संस्कारका रंग उसपर लगे बिना रहता नहीं। अतः भविष्यकी घटनाके काल एवं स्वरूपका वर्णन सदा विकृत बन जाता है।

जब यह लगने लगता है कि अधर्म, अन्याय, अत्याचार अब साधारण शक्तिसे संयमित नहीं हो सकता, तब असाधारण शक्ति सक्रिय हो, यह उत्कण्ठा होने लगती है।

मेरे अपने ही मनमें इधर कई महीनोंसे एक अस्वाभाविक दारुण कल्पना बार-बार उठने लगी थी। जैसे चामुण्डा, भद्रकाली, छिन्नमस्ता, भैरव, वीरभद्र-जैसी अत्युग्र शक्तियोंकी सहायता लेकर कोई सिद्धसंघ सक्रिय हो उठा है। वह संकेत करता है और अत्याचार, अधर्ममें लगे सहस्र-सहस्र लोग सहसा मृत्यु-मुखमें चले जाते हैं।

मेरा अपना मन ऐसी दारुण कल्पना—इतनी भीषण हिंसाका समर्थन करे, यह बहुत अप्रिय लगता है मुझे। अब लगता है कि कन्हाईने ही यह नटखटपन किया होगा। अन्ततः अकेले कल्कि केवल तलवारसे कितनोंको काट सकेंगे ? उनका अश्व कैसा भी हो, पृथ्वी छोटी तो नहीं है और विज्ञान आगे लगभग सवा चार लाख वर्षोंमें कहाँ पहुँचेगा—यह भी कोई कैसे कह सकता है। कन्हाईको यह पुस्तक लिखवानी होगी, अतः उसने ऐसी कल्पना जगानी आरम्भ की होगी।

कल्पना ही है—कन्हाईने जगायी तो वही सँभालेगा, भरोसा है। कल्कि भी तो इस नटखटको ही बनना है। अपनी ही आगामी क्रियाकी कोई कल्पना—कोई छाया इसने दी होगी। इससे आपका यदि विनोद भी होता हो तो मेरा श्रम सार्थक है।

कार्तिक पूर्णिमा }
२०३६ वि० —सुदर्शन सिंह

उपक्रम

अबसे सवा चार लाख वर्ष पश्चात् पृथ्वीकी और देशकी क्या दशा रहेगी, यह सोचते समय इस बातपर बहुत ध्यान दिया जाना चाहिये कि बहिर्मुख प्रवृत्ति विनाशको स्वयं बुला लिया करती है।

जिस विज्ञानको इस बीसवीं (विक्रमकी इक्कीसवीं) शतीका बहुत बड़ा वरदान, मानवकी महान् उपलब्धि माना जाता है, उसने केवल तीन-चार दशकोंमें संसारको सर्वनाशके कगारपर ला खड़ा किया है। अब तो बहुत विकसित देश भी सचिन्त होगये हैं। उनकी आशा धूलिमें मिल गयी है कि बहुत बड़े विनाशक अस्त्र केवल गिने हुए देशोंके समीप रहेंगे और वे शान्ति-सुरक्षाके साधन बने रहेंगे। अब कई अल्पविकसित देश भी उन्हें बना रहे हैं। स्वार्थका संघर्ष ऐसा है कि उन्हें रोक पाना सम्भव नहीं। जब बहुतोंके समीप घोर विनाशक अस्त्र होंगे तो किसका संयम कब समाप्त हो जायगा, यह कुछ निश्चित नहीं रहता।

यद्यपि इसी समय पृथ्वीके कुछ राष्ट्रोंके समीप इतने भयानक अस्त्र हैं कि उससे कई बार संसारको भस्मकी ढेरी बनाया जा सकता है; किन्तु सृष्टिका संचालक बहुत समर्थ है। उसे बीज सुरक्षित रखना अच्छी प्रकार आता है। उसकी शक्ति, सर्वज्ञता, संचालनपर आस्था रखकर ही कहा जा सकता है कि विज्ञान मानवताके बीजको कभी समाप्त करनेमें समर्थ नहीं होगा।

आप सर्वेश्वरकी शक्तिपर आस्था न करें तो वर्तमानमें विज्ञानने जो प्रगति कर ली है, वही पर्याप्त है पृथ्वीपर प्राणियोंकी सत्ता समाप्त करनेके लिए। कोई महायुद्ध न हो तो भी वैज्ञानिकोंको आशा नहीं है कि पृथ्वी और पाँच सौ वर्ष प्राणियोंके निवासयोग्य रहेगी। महायुद्ध नहीं ही होगा या पर-माणु अस्त्र प्रयुक्त नहीं होंगे, यह आश्वासन किसीके पास नहीं है। सच तो यह है कि इन ज्ञात अस्त्रोंसे अनेकगुना भयावह अस्त्र बन चुके हैं। महामारक विषाणु या कीटाणु, गैसें, किरणें तथा और कितने ही प्रलयकारी उपकरण।

शुतुर्मुर्गके समान इधरसे नेत्र बंद करके एकबार समझ लीजिये कि महासमर नहीं होगा या होगा भी तो सीमित रहेगा। लेकिन विपत्ति इससे समाप्त नहीं होती। यह न हो तब भी पृथ्वीपर प्राणियोंकी सत्ता शायद ही पाँच सौ वर्ष बची रहे, यह वैज्ञानिक समझते हैं।

सबसे बड़ी समस्या किसे कहा जाय, यह भी समझ पाना कठिन है। सुना है—'लङ्कामें सब चौदह हाथके'। ऐसा ही इस समय है। वायुमण्डलमें प्रदूषण बढ़ रहा है। प्राणदायी वायुके उत्पादनसे व्यय अधिक है। वैज्ञानिक विकास इसकी गति बढ़ायेगा,घटा नहीं सकता; क्योंकि प्रत्येक भट्ठी जलनेको प्राणवायु (ऑक्सिजन) आवश्यक है और भट्ठियाँ बढ़े बिना विज्ञानकी उन्नति सम्भव है ?

जल-प्रदूषणसे संसार अभी संतप्त होने लगा है। समुद्रोंमें नदियाँ तो प्रारम्भसे नमककी मात्रा बढ़ाती ही थीं, अब संसारमें कीटनाशक छिड़के जानेवाले विष, कल-कारखानोंका और जलयानोंका उत्सर्जित तेल बढ़ता जा रहा है। इनमें कोई सड़कर समाप्त नहीं होता। ये वर्षाकी मात्रा उत्तरोत्तर घटाते जा रहे हैं। साथ ही रासायनिक खादोंका उत्पादन जलके यौगिकोंको विघटित करके अर्थात् जलकी सत्ता ही रूपान्तरित करके होता है। फलतः जलकी मात्रा क्रमशः घट रही है।

भूमि-प्रदूषण और भू-क्षरण भी तीव्र गतिसे बढ़ रहा है। सरिताएँ सैकड़ों-सहस्रों मन मिट्टी प्रतिवर्ष समुद्रमें डालती हैं। आप क्या समझते हैं कि संसारकी सब सरिताओंपर पक्के तटबन्ध बनाकर इसे रोक पाना सम्भव है ?

आज प्लास्टिकका युग है। इसका उत्पादन बढ़ रहा है। यह ऐसा रासायनिक उत्पादन है, जो न सड़ता और न एकबार प्रयोगके पश्चात् गलाकर नवीन बनता। इसके कूड़ेको पृथ्वीमें गाड़ते या समुद्रमें डुबाते आप रहेंगे तो कबतक भूमि उत्पादनके योग्य बनी रहेगी ?

समुद्रमें और पृथ्वीमें और कितना अनर्गल भयानक कूड़ा निरन्तर गाड़ा जा रहा है, जनताको इसका पता नहीं है।

वृक्ष और वनस्पति चाहे जितने आवश्यक और उपयोगी हों, उनके बचानेका चाहे जितना लोग हल्ला करें, विकसित देश भी उनका तीव्र

विनाश बचा नहीं पा रहे हैं। कागजके उत्पादनके बिना आजकी सभ्यता चलेगी? कागजके कारखाने तो घास, वृक्ष माँगेंगे। ये कारखाने बढ़ेंगे या घटेंगे?

वृक्ष ही नहीं, पृथ्वीपर धातुएँ घट रही हैं। उपयोगमें आनेपर धातुएँ घिसती हैं या नहीं? अभी इस ओर किसीका ध्यान नहीं गया तो क्या इसका अर्थ है कि यह समस्या उत्पन्न ही नहीं होगी?

ऊर्जाका संकट तो सिरपर आ गया है। मिट्टीके तेलके भाण्डार अगली शतीके अन्ततक नहीं चलनेवाले हैं। संसारमें अणु-शक्तिको उत्पन्न करनेवाली धातुओंका भी भाण्डार अत्यल्प है।

ये समस्याएँ इतनी ही नहीं हैं, बहुत अधिक हैं। आप जिसे प्रगति कहकर बहुत गर्व करते हो, वह गति तो निःसंदेह है और तीव्र गति है; किंतु है विनाशकी ओर। विश्व विज्ञानके द्वारा अपने विनाशकी ओर दौड़ा जा रहा है और अपनी इस गतिको शिथिल करनेके स्थानपर बराबर तीव्र करनेका जी-तोड़ श्रम करनेमें लगा है।

आस्थाहीन बहिर्मुख विज्ञान जैसे सृष्टि-संचालकको स्वीकार नहीं करता, वैसे ही उसे प्राणि-संसारको भी बचा पानेका कोई मार्ग नहीं सूझता है। वह केवल एक अत्यन्त क्षीण आशा करता है कि मनुष्य सम्भवतः किसी अन्य ग्रहपर जा बसेगा या अन्तरिक्षमें अपने कृत्रिम उपनिवेश बना लेगा। यह आशा सफल भी हो जाय तो कितने लोगोंको बचा पायेगी?

आजकी प्रगतिने आपको कहाँ पहुँचा दिया है और किधर ले जा रही है, इसका यह बहुत अल्प अंगुल्या निर्देश है। लेकिन आस्थावान् हिंदू-शास्त्र कुछ और कहते हैं। इससे सर्वथा उलटी बात कहते हैं। बहुत बलपूर्वक कहते हैं। उनका आधार बाह्य सर्वेक्षण नहीं है। उनका आधार है—सर्वेश्वरकी सर्वसमर्थतापर अविचल आस्था।

इस आस्थापर आधारित सर्वज्ञ महर्षियोंकी वाणीके द्वारा व्यक्त सत्य वैज्ञानिक अनुमानोंसे भिन्न है। वे कहते हैं—'पृथ्वीपर प्राणि-सृष्टिकी समाप्ति बहुत दूर है। प्रलय कल्पके अन्तमें होती है। अभी तो इस कल्पका सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है। अभी सात मन्वन्तर और शेष हैं। एक कल्पमें एक सहस्र चतुर्युगी होती हैं। इस कलियुगकी समाप्तिमें ही अभी ४२७००० वर्ष

बाकी हैं। उसके बाद भी पाँच-सौ चतुर्युगी शेष रहेंगी और तब कहीं प्रलय होगी।❀

यह अवश्य है कि इस कलियुगके अन्त अर्थात् मध्यके इन लगभग सवा चार लाख वर्षोंमें अनेक बार महाविनाश होगा और अनेक बार फिर मनुष्य आदिमयुगसे श्रीगणेश करेगा। यह उलट-पुलट चलती रहेगी; किंतु मनुष्यता और प्राणी बचे रहेंगे। पृथ्वीमें ऐसा अनेक बार पहले हुआ है।

इस उपन्यासके माध्यमसे वर्तमान कलियुगके अन्तिम वर्षोंकी अवस्था, भगवान् कल्किके आविर्भाव तथा सतयुगके शुभारम्भका चिन्तन करना है। इसमें आप मेरा साथ दीजिये।

❀ चतुर्युगी, कल्प आदिका परिमाण 'पलक झपकते'में विस्तारसे आया है।

कलियुग क्यों ?

आज योगसिद्ध महाराज मरुका मन कलापग्राममें नहीं लग रहा था। उन्हें अपने भीतर ही जैसे कोलाहल सुनायी पड़ रहा था। ऐसा लगता था कि असंख्य कण्ठ पुकार रहे हैं—'मरु, उठो ! अब तुम्हारे सक्रिय होनेका समय आ गया है।'

कलापग्राम हिमालयका हृदय और धराकी समस्त सात्त्विकताका पुञ्जीभाव। दिव्य युगान्तजीवी अमर सिद्धोंकी साधनाभूमि। सामान्य मानवोंके लिए कलापग्राम सदा अदृश्य रहा है। अदृश्य तो वहाँके महासिद्ध परस्पर भी रहते हैं। प्रयोजनके बिना वे अपनेको प्रत्यक्ष करते ही नहीं। प्रत्यक्ष करते भी हैं तो केवल व्यक्ति-विशेषके लिये ही।

कलापग्रामकी भाषा ही संकल्पकी भाषा है। कोई प्रत्यक्ष किसीसे कुछ कहने अपवादरूप ही प्रकट होता है। अतः मरुको यह समझना नहीं था कि उनके अन्तःकरणमें उठनेवाले कोलाहलका कारण क्या है। कलापग्रामके सिद्धगण अब उन्हें कार्यक्षेत्रमें जानेको कह रहे थे।

महाराज मरुको यह कलापग्रामसे अपना निर्वासन प्रतीत हो रहा था। वे योगसिद्ध थे। कलियुगके अन्तमें धराकी जो अवस्था थी, वह उनसे अज्ञात नहीं थी। कोई स्वच्छताप्रिय कीचड़में उतरनेमें प्रसन्न होगा ? किंतु कोई उपाय नहीं था। कलापग्राम ऐसा क्षेत्र नहीं कि वहाँके सिद्ध-समूहकी इच्छाके विपरीत कोई वहाँ टिका रह सके। मरु जानते थे कि वे ऐसा कोई आग्रह करेंगे तो समूचा क्षेत्र उनके लिए भी अदृश्य हो जायगा। तब एकाकी उस हिमप्रदेशमें भटकते रहनेसे लाभ ?

अनिच्छापूर्वक, अनमने भावसे मरु उठे। कलापग्रामसे बाहर अलकनन्दा एवं उदीची सरस्वती* संगमपर स्नान करके वे भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन

---

* "पंचनद्यः सरस्वती-पाँच छोटी नदियोंका नाम 'सरस्वती' है।" उनमें-से एक बद्रीनाथके आगे माना गाँवके पास अलकनन्दामें मिलती है, एक कुरुक्षेत्रमें है, एक व्रजमें, एक सिद्धपुरमें और प्रयागमें एक गुप्त है।

व्यासजीकी गुफापर आ गये। भगवान् व्यास उनके लिये अदृश्य नहीं थे। संयोग अच्छा था कि वे प्रवासमें भी गये नहीं थे और न समाधिमें स्थित थे।

'सर्वेश्वरने कलियुगको कालक्रममें स्थान ही क्यों दिया ?' प्रणामके पश्चात् बैठते ही मरुने प्रश्न किया। वे त्रेतान्तमें श्रीरामके वंशमें उत्पन्न सत्पुरुष—कलियुगके प्राणियोंको दूरसे भी देखना उन्हें प्रिय नहीं था। उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती, यदि उन्हें केवल कुछ लोगोंको प्रेरणा देनी होती। यह कार्य तो वे करते ही रहे हैं।

'करुणावरुणालय सर्वेशकी कृपाका सर्वश्रेष्ठ विधान कलियुग है।'* व्यासजी स्वस्थ समासीन थे। उन्होंने स्नेहसिक्त स्वरमें कहा—'मरु! अकल्पनीय वात्सल्य उमड़ता होगा उन अतर्क्य संचालकमें, इसका अनुमान असम्भव होता यदि कलियुगका वे विधान न करते।'

'मैं तो समझता था कि कलियुग एक अनिवार्य आवश्यकता है।' मरुने कहा—'लेकिन सर्वसमर्थ सर्वेशके लिए कोई अनिवार्य आवश्यकता क्यों होनी चाहिये, यह नहीं सोच पाता था। अब आपने एक अद्भुत ही कारण सुना दिया। कलियुगका सृजन और करुणाके कारण ?'

'तुमको कलियुग अनिवार्य आवश्यकता क्यों लगता है ?' व्यासजीने मरुसे ही पूछा।

'सृष्टिका संतुलन बनाये रखनेके लिए।' मरुने अपनी बात स्पष्ट की—'सतयुग, त्रेता, द्वापरमें ऐसे अधम मनुष्य नहीं होते कि उनसे नरक भरे रहें। मिट्टी, पत्थर आदि जड़ धातुएँ, लता-तृण, वृक्ष-क्षुपादि वनस्पति, पशु-पक्षी-कीट बननेयोग्य मनुष्य भी कलियुगमें ही होते हैं। सतयुगमें वनधातु, वनस्पति, सर-निर्झर, गिरि सर्वाधिक होते हैं। उसके पश्चात् क्रमशः वे क्षीण होते हैं। बनना सब मनुष्योंको ही अपने कर्मसे है; क्योंकि यही कर्मयोनि है। अतः कलियुगके पश्चात् सतयुगका शुभारम्भ होता है।'

---

* कलिजुग सम जुग आन नहिं, जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
—श्रीरामचरितमानस, उत्तर० १०३ दो०

'तुमने जैमिनीके कर्मवादका अच्छा अध्ययन किया है।' भगवान् व्यास हँसे—'कर्म और उससे बना प्रारब्ध तो फलदानमें स्वतःसमर्थ है। इस मतके अनुसार कलियुग सड़ाँध उत्पन्न करके खाद बनाता है, जिससे सतयुगका सुमन खिल सके। त्रेता, द्वापर भी उसपर पनप जाते हैं। वह खाद द्वापरान्ततक समाप्त हो जाती है तो पुनः कलियुग उसे प्रस्तुत करने आता है। क्यों?'

'मुझे सत्य यही लगता है।' मरुने स्वीकार किया।' 'कुछ अच्छे शब्दोंमें कहना हो तो कहना होगा कि सतयुगका सुन्दर स्वाद उत्पन्न करनेके लिए सर्वेश कलियुगको काँजीकी भाँति सड़ाता है। लेकिन सर्वसमर्थकका यह विधान बहुत क्रूरतापूर्ण है। आप इसे उलटे अतिशय करुणा कहते हैं?'

'तुमने इस तथ्यपर ध्यान दिया होगा कि कालकी दृष्टिसे कलियुग सबसे अल्पायु है। सतयुगका केवल चतुर्थांश समय प्राप्त है इसे। इससे द्वापर दो-गुना और त्रेता तीन-गुना बड़ा होता है।' भगवान् व्यासने कहा—'यह तथ्य भी तुम जानते हो कि कलियुगमें पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता ही नहीं, धातुएँ, पर्वत, सरिताएँ आदि भी अत्यल्प रह जाती हैं। मनुष्यकी जनसंख्या बहुत बढ़ जाती है।'

'इसीलिये तो मैंने अपना मत बनाया।' मरु बोले—'इसमें कृपा तो कहीं स्पष्ट नहीं होती। सड़ानेका समय अवश्य अल्प है और अत्यधिक मनुष्य-संख्या न हो तो सतयुगमें वे पर्वत, पाषाण, तृण-वृक्ष, पशु-पक्षी कैसे बनें।'

'कर्मके साधारण-विधानमें कोई ईश्वर नहीं माना जाता।' व्यासजीने कहा—'जड़ कर्म ही यदि सदा सक्रिय रहता हो तो उसमें कृपाकी कल्पना असंगत होगी। तब तुम्हारा तर्क अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकेगा।'

'महर्षि जैमिनी आपके प्रिय शिष्य हैं।' मरुको जैमिनीका पूर्व-मीमांसादर्शन प्रिय है। उन्हें श्रौतकर्मोंमें श्रद्धा है; अतः उन्होंने जैमिनीका पक्ष लिया—'उन्होंने तो वैदिक कर्मकाण्डको दृढ़भूमि दी और आपके उत्तर-मीमांसाके लिए पूर्वपीठिका प्रस्तुत की।'

'जैमिनीका प्रयोजन आस्था उत्पन्न करना है।' भगवान् व्यासने स्वीकार किया—'परलोकपर, प्रारब्धपर श्रद्धा दृढ़ हो जाय तो ईश्वरपर आस्था अपने-आप उत्पन्न हो जायगी; क्योंकि मनुष्य पद-पदपर उन करुणा-वरुणालयकी अकारण कृपा, अकस्मात् सहायता अनुभव करता ही रहता है।'

'कलियुगका विधान करनेमें उनकी कृपा ?' मरु पुनः अपने प्रश्नपर आ गये।

'कर्म जड़ है, अतः निष्ठुर है।' भगवान् व्यासजीने समझाया—'जैसा करो, वैसा भोगो।—यह कर्मका मूल सिद्धान्त; किंतु जीवनका यह क्या जाग्रत् अनुभव नहीं है कि सर्वेशको स्मरण करके, उनको पुकारकर प्राणी विषम-विपत्तियोंसे बच जाता है ? उन दयाधामकी सबसे बड़ी दया कलियुग।'

'सम्भवतः आप कहना चाहते हैं कि कलियुगमें मनुष्य मानसिक पापका दण्ड नहीं पाता और मानसिक पुण्यका फल पा लेता है, यह प्रभुका पुरस्कार है।' मरुने कहा—'कलिमें अल्प साधनसे, केवल शारीरिक साधनसे—अभ्यासजन्य क्रिया, जपादिसे भी मनुष्यका जन्म-मरणसे छुटकारा हो जाता है, यह महान् अनुग्रह इस कालमें।'

'यह तो है ही।' भगवान् व्यासने समर्थन किया।

'लेकिन कलियुगके मनुष्यसे इतनी भी आशा करना अधिक ही है।' मरुने तनिक आवेशके साथ कहा—'कलियुगमें मनुष्यका मानस इतना कल्मषाक्रान्त हो जाता है कि उसमें पाप-वासनाकी दुर्गन्धि सहज उठती रहती है। उसे दबा पानेमें वह असमर्थप्राय होता है और पुण्य-कामना तो कदाचित् सत्संगादिसे उठती है। उसका मन तो जैसे उसका रह ही नहीं जाता। कामनाओंके अत्यन्त प्रबल आवेगमें तनको भी वह कुछ लगा पाता है, यही क्या कम है ?'

'तुम जानते हो कि कितना भी उत्तम उद्यान हो, उसका निर्माता उदार हुआ तो कभी कुछ समयके लिए उसमें प्रवेश उन्मुक्त कर देता है।'

भगवान् व्यासने समझाया—'मानवयोनि सर्वेशका सर्वश्रेष्ठ सृजन है। कलियुगमें वे इसे अधिकांश जीवोंके लिए–उन जीवोंके लिए भी उन्मुक्त कर देते हैं, जो पशु-पक्षी आदि होनेके अधिकारी थे। उनको अवसर दे देते हैं कि कर्मयोनिमें आकर वे अपने उद्धारका प्रयास कर लें। उनसे तप-ध्यानादिकी आशा तो की नहीं जा सकती; अतः कलियुगमें वे कायिक साधन ही कर लें, यह सुयोग करुणावरुणालय उन्हें देते हैं।'

'अर्थात् वे परमोदार अपने श्रेष्ठतम उद्यानको प्रवेश-उन्मुक्त ही नहीं करते, शिशुओंको उसे उजाड़कर भी प्रसन्नता हो तो यह स्वतन्त्रता भी दे देते हैं।' मरुका स्वर सहसा भावक्षुब्ध हो उठा—'इसीलिये मनुष्य-शरीर पाकर भी कलिमें द्विपाद् पशु ही प्रायः पाये जाते हैं। सर्वेशके द्वारा प्राप्त सुयोगका सदुपयोग अत्यल्प कर पाते हैं। उलटे उन्मद ही अधिक होते हैं।'

'जब भी कोई वाटिका सार्वजनिकरूपसे अशिक्षित वर्गके लिए उन्मुक्त की जायगी, उसमें अस्वच्छता फैलेगी। उसमें बहुत-कुछ नष्ट-भ्रष्ट होगा। उसके पश्चात् उसकी अच्छी स्वच्छता आवश्यक होगी। उसमें कुछ काल कम ही दर्शकोंको प्रवेश देना सम्भव होगा।' व्यासजीने उदाहरणमें ही समझाया–'किंतु अज्ञानी, अशिक्षित जनोंको कभी उसमें आने ही न दिया जाय, यह क्या उदारता मानी जायगी? कर्मके सहज क्रममें उद्धारका अवसर यदि दूर है, तब भी करुणासागर कलिके द्वारा उसे सुलभ कराते हैं।'

'आपकी कृपासे यह सत्य समझ सका।' मरुने चरणोंपर मस्तक रखा—'अब आशीर्वाद दें।'

'प्रतीपको पहले जाने दो!' भगवान् व्यासने रोका मरुको—'तुम दोनों कुछ काल मेरे पास रहो; किंतु प्रतीप द्वापरान्तसे परिचित हैं, अतः उन्हें कलिकी स्थिति तुमसे कम विचलित करेगी।'
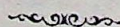
सामान्य समाज

अपने लिये अधिक सुविधा मनुष्यका एकमात्र उद्देश्य होगया था और वह समझ गया था कि किसी एक वर्गमें असंतोष जाग्रत् करके, उस वर्गका अग्रणी बनकर सरलतासे ऐसी सुविधा जुटायी जा सकती है। कलियुगके अन्ततक ईमानदारी, औचित्य, न्याय-जैसी बातें बहुत पीछे छट चुकी थीं। अवश्य इनका नाम लिया जाता था, इनके नारे लगते थे और इनकी बातें की जाती थीं; किंतु कहने-सुननेवाले सब समझते थे कि इन बातोंका कोई अर्थ है तो इतना ही कि अपना उद्देश्य छिपा रहे और परपक्षपर आक्षेप किया जा सके।

अधातु-संघका अधिकारी अनिरुद्ध बहुत उत्तेजनामें था। वह पूरी शक्तिसे प्रचार करनेके लिए चिल्ला रहा था—'यह अन्याय है कि कोई एक पूरा मकान अपने परिवारके लिए सुरक्षित कर ले और दूसरोंको एक कमरा भी सुलभ न हो।'

यह मत पूछिये कि अधातु-संघ कितनी बड़ी संस्था थी। उसके कितने सदस्य थे। अभी परसों ही अनिरुद्धके मस्तिष्कमें इस संस्थाका जन्म हुआ। वह एक प्लास्टिकके छोटे कारखानेमें मजदूर था। लेकिन अब एक लड़की उसकी ओर आकर्षित हो गयी थी। इस अवस्थामें कारखानेके बाहर मैदानमें ही रात व्यतीत कर देना अटपटा लगता था। अब उसे एक कमरा चाहिये। कमरा चाहिये तो असंतोष उत्पन्न करो एक वर्गमें। उसके अग्रणी बनो। चिन्ता छोड़ दो कि तुम्हारे साथ आये लोगोंका क्या होगा। उनमें कुछ निकाले जायँगे, कुछ पिटेंगे, कुछ मर भी सकते हैं; किंतु तुम्हें कमरा मिलनेकी सम्भावना हो जायगी। अग्रणी पिटने-मरनेकी आपत्तियोंसे भी सुरक्षित रहता है; क्योंकि पीछे रहता है।

यह सब करना हो तो संस्था आवश्यक है और अनिरुद्ध क्या नहीं जानता है कि आज गली-गलीमें जो संस्थाओंके नामपट्ट हैं, वे कैसे बने हैं। अवश्य उसके लिए एक नारा चाहिये, एक आधार चाहिये। अनिरुद्धको

वह परसों मिल गया। था तो पहलेसे; किंतु परसों अनिरुद्धको आवश्यकता हुई तो वह सूझ गया। परसों ही तो वह लड़की उसे देखकर मुस्कुरायी। कारखानेके भीतर ही उसके मालिकका तीन-चार कमरोंका मकान है। उनका परिवार—लेकिन परिवार तो आज किसीके पास होता नहीं। उन्हें क्या अधिकार है कि कुछ युवकोंको अपना पुत्र मानें और उन्हें कमरे दिये रहें। कारखानेके बाहर इस मैदानमें मजदूर सोते हैं, इसमें कमरे बन जायँ तो ? मजदूर कहीं भी जायँ या रहें, इन सबको उत्तेजित किया जा सके तो अनिरुद्ध एक कमरा पानेकी सम्भावना देखता है।

परसों ही उसने हाथसे लिखकर एक बोर्ड बनाया–'अधातु-संघ'। उसके नीचे उसने सुन्दर अक्षरोंमें अंकित किया—'अध्यक्ष–अनिरुद्ध'। उसे टाँगनेकी समस्या भी सुलझ गयी। मैदानके कोनेमें खड़े थूहर (कैक्टस) में उसे लटका दिया उसने। मैदानमें सोनेवाले और दूसरे मजदूरोंने भी देखा। कुछ मुस्कुराये; किंतु किसीने विरोध नहीं किया।

अनिरुद्ध कल पूरे दिन अपने उस नामपट्टकी प्रतिक्रिया देखता रहा। कारखानेके मालिककी सम्भवतः दृष्टि नहीं गयी। मजदूरोंमें किसीका विरोध नहीं। जब पूरे दिन और दो रात भी नामपट्ट लटका रह गया, तब क्या उसे वहाँ बने रहनेका स्वत्व नहीं हो गया ? उसके बने रहनेका ही अर्थ है कि 'अधातु-संघ' संस्था सुस्थापित हो चुकी और अनिरुद्ध उसका सम्मान्य अध्यक्ष हो गया। अब तो उसे कुछ और संस्थाके कर्मचारी, अनुगामी कार्यकर्ता बनाने हैं। इन्हें जुटानेके लिए ही वह आज सवेरे-से चिल्लाने लगा है।

उस छोटे मैदानमें रात्रि-शयन करनेवाले सबकी एक ही समस्या है—सबको कमरे चाहिये। समान समस्या है तो उनकी परस्पर सहानुभूति स्वाभाविक है। अनिरुद्धको समर्थक, सहायक, अनुगामी मिलने लगे। यह दूसरी बात है कि उसके साथ आनेवालोंमें सब स्वार्थप्रेरित थे। उनमें कुछ चौंके थे कि उन्होंने यह संस्था पहले क्यों नहीं बना ली। कुछका विचार था कि अनिरुद्धसे वे अधिक योग्य हैं; अतः उन्हें अध्यक्ष होना चाहिये। अनिरुद्धको अपदस्थ करके संस्थापर अधिकार करने ही कुछ साथ हुए थे।

यह तो होता ही रहता है। समाजमें जो सर्वत्र हो रहा हो, उससे कोई एक स्थान या संस्था कैसे अछूती रहेगी। कुछ लोग कारखानेके मालिकका कान भरने पहुँच गये थे। उनमें कई अनिरुद्धके अन्तरङ्ग भी थे। उसी दिन शामतक तीन और संस्थाओंके नामपट्ट उनके अध्यक्षोंके नामको प्रचारित करते उस छोटे मैदानके दूसरे तीन थूहरोंमें लटक गये।

मुझे आपको निराश करना पड़ेगा, यदि आप 'अधातु-संघ' और उसके अध्यक्ष अनिरुद्धके कार्य-कलाप अथवा भविष्यके सम्बन्धमें उत्सुक हो उठे हैं। मेरा तात्पर्य केवल इतना संकेत करना है कि उस समय किस प्रकार संस्थाएँ स्थापित होती थीं और उनका कितना व्यापक क्षेत्र था। उनकी संख्याएँ कितनी अधिक होंगी और उनके सदस्योंकी संख्या कितनी अल्प, यह भी आप इतने-से अनुमान कर सकते हैं।

कलियुगके उन अन्तिम वर्षोंतक समाज सामान्य हो गया था। उसमें जाति, वर्ण आदि कुछ नहीं रहा था।* सब केवल मनुष्य रहे थे। अवश्य ही वे ऐसे मनुष्य थे, जिनसे हीन स्तरके प्राणी पिशाचोंमें भी होते हैं या नहीं, पता नहीं।

'मनुष्योंमें जाति या वर्ण नहीं था'का अर्थ यह भी है कि काले, गोरे, पीले आदिका भेद भी मिट चुका था। किसी भी जनपदमें सब आकृतियोंके लोग मिल सकते थे। शरीरके रंग और मुखाकृतियोंकी बनावटोंके शुद्ध नमूने दुर्लभ हो गये थे। अब मनुष्योंमें अधिकांशका रंग साँवला था। इस साँवलेपनमें ही कुछ श्वेत, कुछ पीले, कुछ कालेकी ओर झुके वर्ण थे। इसी प्रकार मुखाकृतियोंका भी एक मिला-जुला रूप बन चुका था।

मनुष्योंकी जनसंख्या बहुत अधिक बढ़ चुकी थी। इतनी अधिक कि पृथ्वीपर जनपद समा नहीं पा रहे थे। अब समुद्रमें और भूगर्भमें भी नगरोंका निर्माण पर्याप्त हो चुका था।

जनसंख्याकी इस वृद्धिने मनुष्यको अनेक कार्योंके लिए विवश बना दिया था। लोग विस्मृत हो चुके थे कि अन्न या फल भी कभी हुआ करते थे। पृथ्वीपर खेत, वन और बगीचे भी कभी रहे हैं, यह केवल पुस्तकों तथा

---

* भए बरन संकर सब लोगा।

किंवदन्तियोंसे पता लगता था। अवश्य कुछ कण्टक-तृण थे, जो कहीं भी उग जाते थे। उनमें अमाप जीवनशक्ति थी। पृथ्वीपर खुला स्थान बहुत अल्प था और वह उपयोगमें आता था। अतः वहाँ खिड़कियोंमें, कमरोंमें भी थूहर (कैक्टस) लगाना अनिवार्य बन चुका था।

मनुष्यकी इस जनसंख्याने विवश किया उसे कि वह स्वयं बौना बने। अतः जैसे अभी वैज्ञानिक वृक्षों तथा फसलोंको बौना बना रहे हैं, उन्होंने मनुष्य-जातिका आकार भी घटा दिया था। ढाई फुट ऊँचा व्यक्ति ऐसा माना जाता था, जैसे आज कोई आठ फुट ऊँचा हो जायगा तो माना जायगा।* मनुष्यके बौने होनेसे उसके रहनेके स्थानकी समस्या बहुत सुलझ गयी थी। कई मंजिले मकानोंमें चार फुट ऊँची मंजिल बहुत पर्याप्त थी।

मनुष्यके बौना बन जानेसे अनेक और समस्याएँ सुलझ गयीं।+ उसे वस्त्र और आहार कम लगने लगा। उसके फेफड़े छोटे हुए तो प्राणवायुकी भी कम आवश्यकता होने लगी। वह थोड़े स्थानमें रह लेता है।

संसारसे अधिकांश पशु-पक्षी पहले ही समाप्त हो गये थे। जब खेत और वन नहीं रहे तो उनपर पलनेवाले प्राणी कैसे जीवित रह सकते थे। वैसे बौने मनुष्योंके लिए चूहे भी विपत्ति ही थे। कुत्ते-बिल्ली तो उसने समाप्त कर दिये थे, किंतु चूहोंपर उसका वश नहीं चल रहा था। ये इतने ढीठ हो गये थे कि अनेक बार शिशुओंतकको समाप्त कर देते थे।

मनुष्यका समाज सभी दृष्टियोंसे सामान्य हो गया था। उसमें विषमता बहुत कम बची थी। लेकिन जो बची थी, वह दूर होनेवाली नहीं थी। जो लोग बलवान् थे, साहसी थे अथवा किसी एक समूहके अग्रणी थे, उनको अधिक सुविधाएँ उपलब्ध थीं। वे बलपूर्वक या छलसे छीनना जानते थे।

---

* १८ दिसम्बर १९७९ का एथेंससे आया एक समाचार १९ दिसम्बरके 'हिन्दुस्तान' में छपा था। स्टेमेटुला नामक लड़कीकी आयु ९ वर्ष और शरीर केवल ३५ सेंटीमीटर ऊँचा है।

+ अबतक संसारका सबसे छोटा मनुष्य दो इंचका हुआ है।

समाजमें साधुओंका समुदाय बहुत बढ़ गया था। बड़ी जटाएँ, बढ़े नख देखकर साधुको पहचान लेना सरल था। लोगोंको मानसिक आश्वासन आवश्यक था, अतः इसकी पूर्ति करनेवाले यदि अधिक सुख-सुविधा उठा रहे थे तो इसमें आलोचना करनेवाला ही उपेक्षणीय बनता था। बिना श्रम किये जो चतुर थे, चलते-पुर्जे थे, वे साधुवेषमें रहने लगे थे। उन्हें उपदेश देना ही तो आना चाहिये, समाजके सब भोग तो उनके स्वत्व स्वतः बन जाते थे।

जलीय वनस्पति एवं जीव, पृथ्वीपर बढ़े चूहे, टिड्डी, दूसरे कीड़े और थूहर (कैक्टस) के कुछ भेद मनुष्यकी सामान्य आहार-सामग्री बन गयी थी। जब अन्न, फल, शाकका वर्णन केवल पुस्तकोंमें उपलब्ध था तो दूध, दही, घृत या तेलकी चर्चा! अवश्य चिकनाई कुछ विशिष्ट चर्बियोंके माध्यमसे मिलती थी।

नरकप्राय धरा—

विज्ञानने विपुल चमत्कार उत्पन्न किये। यद्यपि बार-बार वह अपना विनाश करता रहा, किंतु भौतिकवादी विवेचक कहते हैं कि यह विकासकी प्रगतिका अनिवार्य अङ्ग है। उनकी बात इस अर्थमें सत्य है कि प्रत्येक विनाशमें भी कुछ-न-कुछ बचा रह गया और विज्ञानके चमत्कार आगे भी बढ़ते गये।

सबसे बड़ा चमत्कार था सम्भवतः पृथ्वीकी आकर्षण-शक्तिका अवरोधक आविष्कृत कर लेना। अब तो वह इतना सामान्य और छोटा यन्त्र हो गया है कि उसे एकाकी व्यक्ति भी अपनी कमरपेटीमें लटकाये घूमता है।

इस यन्त्रने यानोंके लिए धरापर मार्ग अनावश्यक कर दिया। एक बार किसी यानको थोड़ी ऊँचाईसे उछाल दो और उड़ते फिरो। अब तो यान भी साधारण छोटी यात्रामें अनावश्यक हो गये हैं। मनुष्य अपनी कमरपेटीके सहारे उछलते, उड़ते-फिरते हैं।

इस आविष्कारने धराको सचमुच नरक बना डाला है। लेकिन इसमें विज्ञानका दोष ? उसके आविष्कारोंका तो मनुष्यने सदा ही दुरुपयोग किया है।

पृथ्वी पहले ही जनपदोंसे पूर्ण हो गयी थी। अब तो दो नगरोंकी सीमा समझना कठिन है। केवल समुद्र ही सीमा बनाता है। सरिताएँ कभीकी सूख चुकी थीं और पर्वतोंको मनुष्यने समतल कर लिया था। अन्ततः उसे अपने रहनेको स्थान तो चाहिये। अब सड़कें समाप्त हुईं तो अत्युच्च अट्टालिकाओंका अन्तराल स्वच्छताके लिए अनावश्यक मान लिया गया।

पृथ्वीपर अत्युच्च अट्टालिकाएँ हैं और उनके अन्तराल—आप कहना चाहें तो गलियाँ हैं, जिनमें कूड़ा बराबर बढ़ता जाता है। उस कूड़ेको अब तो आवश्यक माना जाने लगा है। उसमें चूहे और अनेक प्रकारके कीड़े पलते हैं, जो अब मनुष्यके आहारके आवश्यक अङ्ग हैं। अतः उस कूड़ेके

अम्बारपर अधिकार करनेके लिए अट्टालिकाओंके आवासी संघर्ष करते हैं। अब संहार सामान्य बात है। प्रत्येक गलीमें दस-बीस मनुष्य यानोंसे टकराकर अथवा अन्य दुर्घटनाओंमें मरते हैं। ऐसी मृत्युओंपर कोई ध्यान नहीं देता। उनके शव चूहोंको समाप्त करनेके लिए छोड़ दिये जाते हैं। केवल कुछ लोग हैं, जिनके शव उनके अनुगामी उठा ले जाते हैं।

शवोंको उठानेकी झंझट कोई क्यों करे और करे कौन? किसीका कोई परिवार या स्वजन तो रहा नहीं। शव तो तब उठाया जाय, जब उसे लेकर कोई उत्तेजना कुछ लोगोंमें उत्पन्न की जा सकती हो और उससे अपना कुछ स्वार्थ सिद्ध होता हो।

पृथ्वीपर पानी समुद्रोंमें शेष रहा है और समुद्र सड़ाँध, कूड़े आदिसे पटे पड़े हैं। वे अब मनुष्यके लिए अनेक उपयोगी उत्पादनके खेत हैं। यह दूसरी बात है कि मनुष्यके लिए अब कीड़े, काई और ऐसी ही वस्तुएँ आवश्यक हो गयी हैं, जो पहले घृणित मानी जाती थीं।

पृथ्वीके आकर्षणके अवरोधकने जहाँ पशु-पक्षी-जलचरोंकी जाति ही समाप्त कर दी, मनुष्यने छलाँग लगाकर उनका सामूहिक संहार कर डाला, वहाँ उसकी अपनी सुरक्षा भी समाप्त हो गयी। अट्टालिका चाहे जितनी ऊँची हो, कोई उसके किसी गवाक्षको काटकर भीतर प्रवेश कर सकता है; क्योंकि मनुष्यको इस यन्त्रने पक्षीप्राय बना डाला है।

प्रशंसा करनी पड़ेगी विज्ञानकी। विज्ञान न होता तो पृथ्वी कभीकी प्राणिहीन हो चुकी होती। लेकिन विज्ञानने विचित्र-विचित्र मान्यताएँ और स्वभाव विकसित किये। मनुष्य बहुत अधिक अपने उत्सर्गों (मल-मूत्र-कफादि)-का उपयोग करने लगा। विज्ञानने उन्हें आकर्षक रूप, रंग, स्वादमें परिवर्तित करना सिखला दिया। फलतः मनुष्यको अब मौलिक आहारकी आवश्यकता अत्यल्प रह गयी है।

आहार ही चूहों-कीड़ोंसे नहीं मिलता, इनके शरीरका जल भी उपयोगमें आ जाता है। आश्चर्य यही है कि ये प्राणी अपने लिए पोषण और पानी कहीं-न-कहीं-से पा ही जाते हैं। इनकी संख्या बढ़ती जाती है और इनमें नवीन जातियाँ उत्पन्न होती जाती हैं।

कभी-कभी वर्ष-दो-वर्षपर अब भी आकाशमें कहीं मेघ दीख जाते हैं। मनुष्य उस समय उत्सव मनाने लगते हैं और यदि बूँदें भी पड़ने लगीं तो प्रशासनकी बहुत अधिक चेतावनीकी भी उपेक्षा करके उनको अङ्गपर लेने दौड़ पड़ते हैं। भूल ही जाते हैं कि आकाशमें कितने विषैले तत्त्व हैं और वे बूँदें शरीरपर पड़कर जलन, फुंसियाँ ही नहीं उत्पन्न करतीं, कई बार किसी संक्रामक रोगका भी वितरण करती हैं।

मनुष्य अवश्य बहुत बुद्धिमान् हो गया है। अब उसे वस्त्रोंकी आवश्यकता केवल शीतकालमें ही थोड़ी है। प्रकृतिप्रदत्त शरीरको छिपाये रखनेकी रूढ़िवादितासे वह परित्राण पा गया है। पशु-पक्षी जब निरावरण रहते थे तो मनुष्य क्यों अपनेको बन्धनमें बनाये रहे। अब तो पशु-पक्षी दुर्लभ हो गये हैं, किंतु मनुष्य पुरानी सड़ी-गली परम्पराओंसे स्वतन्त्र हो गया है।

प्रगतिशील मनुष्य—लेकिन प्रकृति इसके पीछे हाथ धोकर पड़ी है। वर्षा प्रायः बंद हो गयी। अंधड़ आते ही रहते हैं और उनमें उड़ने–छलाँग लेनेवाले बौने आकारके मनुष्य मरते हैं। यान टकराते-टूटते हैं। जो मर जाते हैं, उनकी तो कोई चिन्ता नहीं, किंतु आहतोंको लेकर बहुत चीख-पुकार होती है। उनमें अनेक अपंग हो जाते हैं और वे यदि प्रभावशाली हुए, दूसरोंका सोना कठिन कर देते हैं।

कभी किसी अत्यन्त उर्बर मस्तिष्कपर सम्मान्य पुरुषने नारा दिया था—'संघर्ष चिरजीवी हो !' सचमुच उसने जीवनका तत्त्व समझा दिया था। अब भी कोई पिछड़े भारतीय संतोषकी बात तो करते हैं, किंतु प्रगतिशील समाज ऐसी बातें सुना नहीं करता। अब संघर्षके बिना कहीं जीवन सम्भव है ?

'लड़ो, झगड़ो, छीनो'—मनुष्यने इसके साथ और जोड़ लिया है—'छलसे, बलसे, चाहे जैसे सम्पत्ति और अधिकार प्राप्त करो।' तुम सफल होते हो तो समाज स्वतः तुम्हारा सम्मान करेगा। जो दूसरोंको दो टुकड़ा डालनेयोग्य नहीं बन जाता, उसे कोई क्यों पूछेगा ?

अट्टालिकाओंके अन्तरालमें बढ़ते अम्बारके भीतर चूहे और कीड़ोंके सतत चलनेवाले संघर्षसे मनुष्य प्रेरणा प्राप्त करता है। इसमें हँसने-जैसी कोई बात नहीं है। यह पिछड़े युगकी सड़ी परिपाटी थी कि मनुष्य पृथ्वीपर चलता था और प्रेरणाके लिए सिर उठाकर आकाशकी ओर, किसी अज्ञात ईश्वरकी ओर देखता था। मनुष्य अब स्वयं आकाशमें उड़ता है और प्रेरणाके लिए सड़ते कूड़ेके अम्बारमें छिपे प्राणियोंको देखता है। उस कूड़ेको सड़ानेके साधन भी वह स्वयं जुटाता रहता है।

मनुष्य विचारशील प्राणी है। इसने बहुत-कुछ सीखा है, बहुत आविष्कार किये हैं। अब यह इस सत्यको समझ गया है कि मृत्युको महत्व नहीं देना चाहिये, यदि वह दूसरोंकी होती हो। अपनी सुरक्षा एवं संतुष्टिको प्रधानता देना उचित तो है ही, किंतु इससे संघर्ष उत्पन्न होता है, असुरक्षा बढ़ती है। ऐसा होना अनिवार्य है, आवश्यक भी है। प्रकृति सर्वश्रेष्ठको ही सुरक्षित रखना चाहती है।

कलिके अन्तमें समाजके सामान्यीकरण और पृथ्वीकी बननेवाली परिस्थितिका यह एक आनुमानिक चित्र है। आपपर निर्भर है कि आप उस समय कूड़ेके अम्बारसे सड़ती धरा, दुर्गन्धि देते सागर और अत्यन्त संघर्षरत, स्वार्थ-परायण समाजसे परिपूर्ण पृथ्वीको स्वर्ग समझेंगे या नरक।

आप क्या समझेंगे, इससे कुछ होनेवाला नहीं है। विज्ञानके चरण तीव्रगामी हैं। बुद्धिमान् मनुष्य प्रगतिशील है। सचमुच विकसित देशोंके वैज्ञानिक पृथ्वीकी आकर्षण-शक्तिके अवरोधकके आविष्कारमें दिन-रात एक किये हुए हैं। और अवरोधक आविष्कृत होनेपर आरम्भमें तो वह भारी-भरकम, भोंड़ा और बहुमूल्य होगा ही; किंतु वैज्ञानिक उसे छोटा, हल्का, सुन्दर, सर्वसुलभ बनानेका प्रयास छोड़ देंगे ?

परिवार टूट रहे हैं। कई देशोंमें विवाह-संस्था समाप्त हो चुकी है। भले वे छोटे देश हों। वृद्धोंकी बात अब कम ही पूछी जाती है। अब नग्नता कोई असाधारण बात नहीं रही है, यह सब आप जानते हैं।

एक अच्छे प्रतिष्ठित पत्रमें एक लेखिकाका यात्रा-विवरण पढ़ रहा था। कोई बहुत पुराना संस्मरण था। रेलके प्रथम श्रेणीके डिब्बेमें कोई

राजासाहब सहयात्री थे। उन्होंने भोजनके समय सगर्व कहा—'मैं आहारके विषयमें चौपायोंमें केवल चारपाई और उड़नेवालोंमें पतंगसे परहेज करता हूँ।'

मुझे विश्वास है कि राजासाहबने डींग भले हाँक दी, किंतु मक्खी, छिपकली, गुबरैलोंके स्वादका उन्हें भी पता नहीं रहा होगा। लेकिन इससे यह तो पता ही लगता है कि पढ़े-लिखे प्रगतिशील समाजके चरण किधर चल रहे हैं।

कलिके अन्ततक तो असंख्य विवशताएँ मनुष्यको नारकीय प्राणी बना छोड़ेंगी; क्योंकि मनुष्य अपने विवेकको विसर्जित करता जा रहा है।
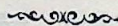
विकृत शरीर-

'आपने सुना, अनिलने अपने पिताकी आँख बेच दी।' एक अधेड़ व्यक्तिने सबेरे यह समाचार दिया दूसरेको। 'बेचारा बूढ़ा—एक आँख पहलेसे खराब थी, अब अन्धा ही हो गया।'

'और पिता बनो!' दूसरेकी बातमें व्यङ्ग्य नहीं, आक्रोश था—'आज कल भी कोई पुराने समयके समान परिवार पालता है। लेकिन इस बूढ़ेमें इतना मोह था कि इसने सारा जीवन एक स्त्रीके साथ समाप्त कर दिया। उसीकी संतानोंको सँभालनेमें लगा रहा। अब वे ही संतानें उसे खाकर समाप्त करेंगी।'

'अनिलको भी दोष नहीं दिया जा सकता।' पहलेने दुःखभरे स्वरमें कहा—'भूखा मनुष्य कुछ भी कर सकता है। सुना कि उसे कई दिनसे कुछ भी आहार नहीं मिला था। पिताको आँख बनवानेका प्रलोभन देकर चिकित्सालय ले गया और........।'

'अनिल न करता तो कोई दूसरा यही करता'—पहलेकी बात सुनकर दूसरा हताश हो गया था—'हमारे-तुम्हारे हाथ-पैर, नेत्र और हृदय तबतक सुरक्षित हैं, जबतक किसी उच्चाधिकारी या किसी बड़े समूहके अग्रणीको इनकी आवश्यकता नहीं है। अन्यथा किसी दिन कोई प्रशासन-कर्मचारी या गुंडा पकड़कर चिकित्सालय ले जायगा और फिर हम कर क्या लेंगे?'

पहले परमाणु अस्त्रोंका बार-बार प्रयोग हुआ और फिर आकर्षण-अवरोधक यन्त्रोंका उपयोग होने लगा। विज्ञानने बहुत उन्नति की। यन्त्रोंके द्वारा अधिकांश कार्य होने लगा; किंतु इसके अनेक दुष्परिणाम हुए। उनमें सबसे बड़े दो दुष्परिणाम—सम्पूर्ण मनुष्य-समाज दो वर्गोंमें विभाजित हो गया। एक अत्यन्त दरिद्र, दर-दर भटकते रहनेवाला, अपङ्ग, कुरूप और दूसरा सुन्दर, स्वस्थ, अधिक सम्पन्न।

विज्ञानकी अन्य शाखाओंके समान चिकित्सा-विज्ञानने भी बहुत उन्नति कर ली। फलतः जिसके समीप भी साधन हो, उसे या उसके स्वजन-सम्बन्धीको वृद्ध, कुरूप रहनेकी विवशता नहीं थी। चिकित्सालयोंमें सभी अङ्ग परिवर्तित हो सकते थे। केवल मस्तिष्क-परिवर्तन मना कर दिया गया था।

सत्य तो यह है कि कम ही शिशु सुन्दर, स्वस्थ उत्पन्न होते थे। वातावरण इतना विकृत हो गया था कि अन्धे, अपङ्ग, बेडौल या अधिकाङ्ग बच्चे ही प्रायः उत्पन्न होते थे। किसीके सिरपर कई इंचकी सींग है तो किसीके पूँछ। किसीके हाथसे कोई हड्डीहीन अतिरिक्त हाथ लटक रहा है अथवा पैरसे कोई छोटा पैर झूल रहा है। पेट, पीठपर कहीं-कोई अतिरिक्त अङ्ग हो सकता है।

माता सम्पन्न है, किसी समर्थसे उसका सम्बन्ध है तो उत्पन्न होते ही शिशुके अङ्ग काट-छाँट करके उसे सुन्दर बना दिया जायगा। पिताका पता तो केवल गिनी-चुनी रूढ़िवादी स्त्रियाँ रखती हैं, किंतु माताका सम्बन्ध कुछ सशक्त लोगोंसे अवश्य होना चाहिये।

यद्यपि कृत्रिम अङ्गोंका अभाव नहीं है बाजारमें, किंतु उनकी अपेक्षा सजीव अङ्ग शीघ्र सक्रिय हो जाते हैं। सुयोग्य चिकित्सक उन्हें उत्तम मानते हैं। अङ्ग किसीसे लिये जायँ या कृत्रिम हों, उनको बिना मूल्य तो पाया नहीं जा सकता। मूल्य देनेकी सामर्थ्य समाजमें कम लोगोंमें ही रहा करती है। अतः सामान्य नारियोंके शिशु जैसे उत्पन्न होते हैं, वैसे ही रहनेको विवश हैं; क्योंकि समाजमें सामान्यवर्गका ही बाहुल्य होता है, समाजके अधिक लोगोंके शरीर विकृत हैं। अब यह इतनी साधारण बात हो गयी है कि इस ओर कोई ध्यान ही नहीं देता है।

जो सशक्तवर्ग है, सामान्य समाजके लोगोंके शरीरोंको विकृत बनानेका दायित्व उसीपर है। किसी साधारण नारीके शिशुका विकृत उत्पन्न होना तो सामान्य बात है, किंतु वह चिकित्सालयसे सजीव बचा निकले, यह अब अवश्य उस शिशुका सौभाग्य कहा जा सकता है। सशक्त समर्थकोंकी सहायता-प्राप्त कोई नारी किसी भी दूसरेके शिशुकी त्वचा या दूसरे अङ्गोंका उपयोग अपने शिशुको स्वस्थ, सुन्दर बनानेमें तभी नहीं करेगी, जब उसके शिशुके रक्तादिसे मिलता दूसरा उसे मिले ही नहीं।

केवल शिशुके ही शरीरमें तो परिवर्तन नहीं होता, अब तो यह क्रम बुढ़ापेतक चलता रहता है। असमर्थ, निर्धन स्त्रीके लिए अभाग्य कहा जाता है कि उसके बालकका कोई अङ्ग सुन्दर, स्वस्थ और स्पृहणीय हो।

सशक्तवर्ग भी कहाँ सुस्थिर है। उनमें भी परस्पर संघर्ष, घोर ईर्ष्या और दूसरेको पदच्युत करके स्वयं सत्ता प्राप्त करनेकी लालसा स्वाभाविक है। जब एक प्रधानता प्राप्त करता है, प्रतिस्पर्धीको, उसके समर्थकोंको समाप्त कर देनेमें कुछ क्यों उठा रखे। फलतः जो कल पदोंको प्राप्त करके सशक्त थे,वे ही आज सामान्य जनोंसे भी अधिक दलित हो सकते हैं। उनकी छल-बलसे एकत्र सम्पत्ति तभीतक उनके पास है, जबतक उसका पता न लग जाय।

सामान्यजनोंमें संस्थाएँ बनती ही रहती हैं। जो कुछ लोगोंको बहका-फुसलाकर किसी प्रकार प्रभावित कर सकता है, वही प्रमुख हो जाता है और उसे सुविधाएँ मिलनी प्रारम्भ हो जाती हैं।

इन परिवर्तनोंका अनिवार्य प्रभाव है कि सामान्यजनोंमें भी अविकृत शरीर शिशु कुछ पाये जाते हैं। वे कबतक अविकृत रहेंगे, यह इसपर निर्भर है कि उनकी माताओंमें आकर्षण कितना है और वे अपने आकर्षणका उपयोग कितनी चतुराईसे कर सकती हैं।

शरीरका प्रभाव मन-मस्तिष्कपर भी पड़ता है, यह पुरानी पोंगापन्थी बात है। आजके कुशल चिकित्सक मस्तिष्ककी भी अच्छी चीर-फाड़ कर लेते हैं। उसमें भी बहुत परिवर्तन कर देते हैं। अवश्य उन्हें प्रशासनकी प्रेरणासे ऐसा करना पड़ता है, किंतु प्रशासनका भी तो कोई अर्थ नहीं है। उसमें अगणित दल हैं। उन दलोंके समर्थक चतुर लोग हैं। वे उच्चाधिकारीके अनुकूल भी बने रहते हैं और अपने दलको सुदृढ़ भी करते जाते हैं।

प्रशासनके प्रत्येक कर्मचारीको पता है कि उसको केवल वही कार्य करना है, जिसमें उसका व्यक्तिगत लाभ हो। ऐसे लाभके अवसर उसे स्वयं निकालते रहने हैं। ऐसा करनेमें कार्य-विलम्बित हो, समाजकी कोई क्षति हो—बहुत बड़ी क्षति भी हो तो केवल उसे इतनी सावधानी अवश्य रखनी चाहिये कि वह स्वयं सुरक्षित रहे।

अकेला कोई कम ही सुरक्षित रह पाता है। अतः प्रत्येकको अपने ऊपर-नीचेके कर्मचारियोंको अनुकूल रखना पड़ता है। उन्हें अपने इस विशेष उपार्जनमें भाग देते रहना पड़ता है। दूसरोंका इस दिशामें समर्थन-सहयोग करना पड़ता है और कोई विपत्ति आ ही जाय तो कोई प्रबल व्यक्तित्व बचाने आगे आ जाय, यह व्यवस्था भी बनाये रखनी पड़ती है।

व्यक्ति यह सब करनेमें क्या कम व्यस्त रहता है कि उससे कर्त्तव्य-पालनकी बात की जाय ? वह जो-कुछ कर देता है, वह यदि उसकी विवशता नहीं है तो उसकी कृपा माननी चाहिये औरोंको। समाज और शासन तो उतने-से चलता रहता है, जो अपने स्वार्थवश या विवशतामें कर्मचारी कर देते हैं।

लोग सीधी बात नहीं समझते कि शान्ति, सुव्यवस्थामें उपार्जनके अटपटे अवसर कम होते हैं। अतएव अशान्ति, अव्यवस्था तो उत्पन्न करते रहना पड़ता है। अवश्य इसे ऐसे ढंगसे करना आवश्यक है कि लोग शान्ति, सुव्यवस्थाका सफल प्रयत्न समझें।

समाजके अधिकांश लोगोंका शरीर विकृत है, अतः यह सामान्य बात हो गयी। इसी प्रकार लोगोंके मन-मस्तिष्क विकृत हो गये, यह भी सामान्य बात बन गयी। सबसे सरल उपाय ही यह है कि बुराईको विशेष न रहने दिया जाय। सामान्य बननेपर तो कोई बुराई नहीं रह जाती।

समाज संतुष्ट नहीं है, यह भी कोई बात हुई ? समाज कभी सतयुगमें संतुष्ट रहा होगा। इस समयके बुद्धिमान् तो कहते हैं—'सतयुग कभी था ही नहीं। वैसे मनुष्योंका होना ही सम्भव नहीं। यह सब केवल कवि-कल्पना है और वह भी उलझे अर्धोन्मत्त परम्परावादी कवियोंकी कल्पना।'

अवश्य इस समयके बुद्धिमान् वैज्ञानिक भी बहुत चिन्तित हैं बढ़ती जनसंख्याके कारण और शिशुओंके विकृत शरीर उत्पन्न होनेसे। बड़ी भयंकर भविष्यवाणियाँ करते हैं वे; किंतु वैज्ञानिकोंका तो चिन्ता करना स्वभाव होता है। उनकी बातोंसे मनोरञ्जन कर लेना एक बात है, पर कोई पदाधिकारी उसे गम्भीरतासे लेने लगे तो समझो कि उसके पदच्युत होनेका समय समीप आ गया।

समाजका ही शरीर विकृत हो गया तो व्यक्तियोंके शरीर अविकृत कैसे बचे रहते। मनुष्यके पास तो केवल काट-छाँटकर शरीरोंको सुडौल बनाते रहना रह गया और इस सुडौलताका मापदण्ड भी गिरता चला गया।

नगण्य जगत्—

'अमर भी अब निरपेक्ष हो गये हैं मनुष्यसे।' प्रतीप भी भगवान् व्यासके समीप पहुँच गये थे। कलापग्राममें अब समाधिमें स्थित रहना उनके लिए भी सम्भव नहीं रहा था और मरु प्रथम ही आ चुके थे। लेकिन पृथ्वीकी जो स्थिति थी, उससें कुछ करना प्रतीपको भी सम्भव नहीं लग रहा था—'असुर इन अल्पप्राण मानवोंके मध्य नहीं आवेंगे, यह आश्वासन तो लगता है, किंतु........।'

'मानव स्वयं असुरोंसे निकृष्ट हो गया है। अब असुर उसे और क्या प्रेरणा देंगे।' मरुने ही कहा।

कलापग्राममें भी कभी-कभी मरु ही प्रतीपसे मिल लेते थे। वहाँ अपने-से अर्वाचीनसे मिलनेके लिए आयु एवं तपोवृद्धको ही कृपा करनी पड़ती है। अपने-से श्रेष्ठसे कोई इच्छा करके मिल नहीं पाता। उस दिव्यस्थलीके ऋषि-मुनियोंकी रुचि इन दोनों क्षत्रियोंमें कम ही थी। वे केवल अप्रत्यक्ष आदेश-निर्देश दे दिया करते थे। अब उनके आदेशसे ही दोनोंको धराको अपना कार्यक्षेत्र बनाना था; पर यह कैसे किया जाय, यही समझ पाना कठिन था।

'अमर मनुष्यकी तब सहायता करते हैं, जब उन्हें आहुति प्राप्त होती रहे।' भगवान् व्यासने समझाया—'अथवा धराका कोई तपस्वी इतना श्रेष्ठ होने लगे कि सुरोंको अपने स्थानकी चिन्ता हो। इस समय तो मनुष्य अमरोंकी सत्तामें ही आस्था नहीं करता।'

'सुर इनके औद्धत्यका दण्ड तो दे ही सकते हैं।' प्रतीप ही बोले।

'उसका भी समय आ रहा है।' भगवान् व्यासने बतलाया—'श्रीहरि स्वयं कल्कि-रूपमें अवतीर्ण होनेवाले हैं। उनकी सुर सहायता करेंगे।'

'मानव इतना समर्थ तो नहीं है कि स्वयं श्रीहरिको अवतीर्ण होना पड़े।' महाराज मरुने शङ्का की—'पृथ्वीको स्वच्छ करनेमें सुर समर्थ हैं अभी और असुर हस्तक्षेप करते लगते नहीं।'

'सुर केवल संहार ही तो कर सकते हैं।' भगवान् व्यासने समझाया—'अकाल, महामारी, भूकम्प आदि वे उत्पन्न कर रहे हैं बार-बार, किंतु मनुष्यको सात्त्विक बना देना सुरोंके लिए सम्भव नहीं है। यह तो श्रीहरि ही कर सकते हैं। उनका सांनिध्य ही सात्त्विक प्रजा उत्पन्न करनेवाला प्रभाव प्रसारित करेगा।'

सुर मनुष्यकी श्रद्धासे संतुष्ट हो सकते हैं। मनुष्यकी अर्चा उन्हें आकर्षित करती है और पूजासे प्रसन्न होकर अपनी शक्तिके अनुसार वे वरदान देते भी हैं; किंतु मानव ही तो अपने पुण्यसे स्वर्ग जाकर सुर बनता है। अतः मानवके मनमें कोई मौलिक परिवर्तन सुर कर कैसे सकते हैं।

'कोई भी अत्यन्त उपेक्षणीय नन्हे कीटोंके संहारमें प्रवृत्त नहीं होता, यदि उनका उपद्रव किसीको उद्विग्न न कर दे।' भगवान् व्यासने कहा—'मानव-जगत् सुरोंके लिए नगण्य हो गया है। मानवका वर्तमान विज्ञान सुरोंका संस्पर्श करनेमें भी असमर्थ है। अतः अमर इन नगण्य प्राणियोंकी ओर क्यों ध्यान दें।'

'सृष्टिसे सात्त्विकताका ही यदि लोप हो जाय.......।' प्रतीपकी चिन्ता अकारण नहीं थी। मनुष्योंमें तो सात्त्विकता कहीं दृष्टि ही नहीं पड़ती थी। उन्हें जो भोगोंमें और संघर्षमें कुछ सुख मिलता था, केवल उस राजस-तामस-प्रधान सुखतक ही सात्त्विकता सीमित हो गयी थी।

'किसी भावका लोप या विनाश सम्भव नहीं है।' भगवान् व्यासने कहा—'सात्त्विकता सृष्टिमें इस समय कहीं बहुत सघन होकर सिमट गयी है और शेष अत्यन्त विस्तीर्ण होकर विकृत हो गयी है। इस स्थितिको समझना मरुको कठिन नहीं होना चाहिये। सतयुगसे त्रेतातक जो अवस्था तमोगुणकी थी, कलि उसकी प्रतिकूल स्थिति है, प्रतिक्रिया है।'

'समस्त सृष्टिका मेरुदण्ड मनुष्य और उसीकी इतनी निकृष्टावस्था।' मरुनें समझ लिया भगवान् व्यासके सूत्रको। लेकिन यह कोई संतोषकी बात नहीं थी। संतोषसे संतुष्ट तो वे कलापग्राममें त्रेतासे अबतक साधनमें लगे ही थे। 'धरा धन्य है मनुष्यके कारण और उसी मनुष्यने आज धराको नगण्य बना डाला है। असुर भी आज धरापर पद धरना पसंद नहीं करते।'

'प्रत्येक पदार्थ एक सीमापर पहुँचकर सड़ जाया करता है। यह सृष्टिका साधारण नियम है। यह पदार्थके पुनर्गठनके लिए आवश्यक है।' व्यासजीने कहा—'व्याकुल होने-जैसी कोई बात नहीं है। सृष्टिके संचालक सर्वसमर्थ हैं। धराका समुद्धार वे स्वयं करनेवाले हैं। यह कलिके अन्तका समय तो ऐसा है, जैसे सम्पूर्ण समाज सड़ गया हो। यह आवश्यक इसलिये है; क्योंकि मनुष्यके सामूहिक पुनरुद्धारके लिए, सतयुगके शुभारम्भके पूर्व प्रथम आयी समस्त विकृतियाँ सड़कर समाप्त हो जायँ।'

× × ×

भगवान् व्यासके आश्रमके समान ही एक चर्चा पृथ्वीके अधःलोकोंमें भी चल रही थी। सुतलमें दानवेन्द्र मयके समीप दैत्य एवं राक्षसोंके भी अग्रणी एकत्र हो गये थे।

'कर्मलोक केवल धरा ही है। हम उसपर क्यों अधिकार न कर लें।' सुमाली दैत्योंका स्वतःसिद्ध अग्रणी बना बोल रहा था—'हम इस समय सरलतासे ऐसा कर सकते हैं। आपकी केवल अनुमति अपेक्षित है हमें।'

'धरापर अधिकार आप अवश्य अत्यन्त सरलतासे इस समय कर सकते हैं।' दानवेन्द्र मयने सुमालीकी ओर देखा—'मानता हूँ कि वहाँ मनुष्य इतना नगण्य हो गया है कि उसकी सत्ता भी सामूहिक संहार करके समाप्त कर दी जा सकती है; किंतु कर्मलोकमें जाकर इतनी हत्या करके आप क्या लाभ प्राप्त करेंगे ? वहाँके कर्मोंका यदि कोई फल न होता हो तो वहाँ जाना व्यर्थ है। और फल होता हो तो आप अमरावतीपर अधिकारके उत्साही होंगे या नरक-निवासके ?'

'ऐं !' सुमाली चौंका। सचमुच उसने इस ओर तो ध्यान ही नहीं दिया था कि धरापर जाकर अभी कोई सत्कर्म–यज्ञादि कर पाना सम्भव

नहीं है और वहाँ इतना सामूहिक संहार किया जाय तो उसका परिणाम अमरपुरी तो होनेसे रहा।

'हमारा स्वभाव संघर्षशील है।' राक्षसोंकी ओरसे स्वर आया—'दीर्घकालतक शान्त बने रहनेके कारण हम ऊब गये हैं।'

'इसीलिये आप सब मक्खी-मच्छर मारनेको उतावले हो उठे हैं।' मयने व्यङ्ग्य किया—'यह कार्य तो मनुष्य धरापर आपकी अपेक्षा बहुत उत्तम रीतिसे कर रहा है। उसे तो अपने स्वजनोंके संहारमें भी कोई संकोच नहीं रहा है।'

'धरापर जाकर हम करेंगे भी क्या ?' एक महाकाय कह रहे थे—'पृथ्वीपर न पशु रहे, न कोई ठिकानेके मनुष्य ही हैं। हम उन बौने मनुष्योंका आहार करने लगें तो कितने दिन काम चलेगा ? मेरे रहनेयोग्य कोई भवन वहाँ है नहीं।'

'हमें प्रतीक्षा करनी चाहिये।' दानवेन्द्र मयने अपनी निश्चयात्मक सम्मति दे दी—'जबतक धरापर सतयुग नहीं आ जाता, वहाँकी सड़ाँधमें उतरना हममें किसीको शोभा नहीं देगा। संघर्ष तो समान शत्रुसे सम्भव है। जब सुर भी धराके मनुष्यसे स्पृहा करने लगेंगे, तब हम धराके उन मानवोंसे संघर्ष करें या उन्हें सखा बनावें, यह सोचनेकी स्थिति होगी। अभी तो नाग, वानर, रीछ-जैसे उपदेवताओंमें भी कोई पृथ्वीकी ओर नहीं देखते। हम तो सुरोंसे श्रेष्ठ, उनके ज्येष्ठ भ्राता हैं।'

'हम सतयुगके प्रारम्भ होनेपर धरापर अधिकार करेंगे !' सुमालीने भी स्वीकार किया—'सुरोंसे संग्राम तभी प्रारम्भ किया जा सकता है। अभी तो नगण्य प्राणियोंसे पृथ्वी पटी पड़ी है। उसे स्वच्छ करनेकी चिन्ता सुरोंको करनी चाहिये। ऐसा करके वे हमारी सेवा ही करेंगे। हम इस अपमानजनक प्रयत्नमें नहीं पड़ेंगे।'

'पृथ्वीको कीटप्राय प्राणियोंसे स्वच्छ करनेका शुभ कार्य सुर करें !' वह महाकाय अट्टहास करके उठ खड़ा हुआ—'हमको कोई आपत्ति नहीं है। आवश्यक हो तो मैं उन्हें आशीर्वाद दूँगा।'

पृथ्वीकी स्वच्छता आवश्यक है, यह बात असुरोंको ठीक लगी और स्वच्छता करनेके क्षुद्र कार्यमें तो उनकी कोई रुचि नहीं। उनके अपने अधः-लोकोंमें कोई अभाव तो है नहीं।* अतः धराको स्वच्छ ही करना हो तो सुर करें। यह देवताओंका कर्तव्य होना चाहिये; क्योंकि मनुष्योंके यज्ञका आहुति-भाग भी तो देवता ही भोगते हैं।

× × ×

जगत्—हमारा-आपका यह जगत् कलियुगके अन्तमें इतना नगण्य हो गया कि इसकी ओर आँख उठानेको असुर भी उत्सुक नहीं थे। देवता तो सत्त्ववृत्ति हैं, वे श्रद्धा-सेवित हैं। अतः उन्हें पृथ्वीकी चर्चासे ही अरुचि हो गयी हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। शेष रहे मनुष्य, उनकी स्थिति तो सूचित की ही जा रही है। उनकी संख्या बढ़ रही थी और अवस्था सोचनीय होती जा रही थी।

---

* इन लोक-लोकान्तरोंका वर्णन एवं वहाँकी स्थिति 'अमृतपुत्र' में आ चुकी है।

मनोरञ्जनके नामपर—

मनुष्यका सामाजिक संगठन धर्मपर आश्रित था, यह तो सतयुगकी बात हुई। द्वापरतक समाजका आधार यश था और वह भी धर्मके अङ्कमें ही था। कलिमें अर्थाश्रित समाज हो गया; किंतु अब अन्तमें तो समाजका आधार ही भोग हो गया है। भोग भी क्या? अब सभ्य कहलानेवाले लोग उसे 'मनोरञ्जन' कहते हैं।

समाजके संगठनका मूलाधार 'मनोरञ्जन'। इसका अर्थ है कि जैसे आपका मनोरञ्जन हो, आप वैसा व्यवहार करो, यदि आपमें वैसा करनेका बल है। दूसरे भी ऐसा ही करेंगे और जो अबल हैं, उन्हें यदि यह अत्याचार लगता है तो भी सहना पड़ेगा उन्हें।

कलियुगके अन्तका समय आनेसे बहुत पूर्व काम मनुष्यका कुछ मनोरञ्जन कर पाता था। अब तो यह पिछड़े युगकी बात हो गयी। पुरुष हो या स्त्री, यदि शील ही न सता रहा हो तो सब प्रायः नग्न रहते हैं। अतः अब अङ्गोंमें कोई आकर्षण नहीं रहा और जहाँतक वासनाकी बात है, मनुष्य अब पिछड़े युगोंकी कुण्ठाओंसे मुक्त हो गया है। कोई पशु-पक्षी संतानोत्पादनकी क्रियाको क्या छिपानेकी आवश्यकता मानता है? तब मनुष्य ही इस पिछड़ेपनको क्यों पालता रहता?

स्त्रियाँ बलात्कार करनेकी वृत्तिवाली होती हैं, यह अभियोग प्रायः प्रत्येक पुरुषका अब है। वे समूह बना लेनेमें सुचतुर हैं, अतः संगठित होकर चाहे जिस या जितने पुरुषोंको पकड़ लेती हैं। जी भरकर सताती हैं।

स्त्रियोंको भी कम आपत्ति पुरुषोंकी ओरसे नहीं है। उनका अभियोग असत्य भी नहीं है। पुरुष उन्हें सहज प्राकृतिक अवस्थामें देखता है, छूता है और सुविधा पाकर सब-कुछ करता है; किंतु जब स्त्रीकी इच्छा हो, पुरुषको उत्तेजित दशामें देखना उसके लिए सम्भव नहीं होता।

स्त्री और पुरुषका यह विभाग भी मनोरञ्जनके लिए आवश्यक नहीं रहा है। परस्पर ही मनोरञ्जनमें कोई बाधा नहीं; किंतु अब यह मनोरञ्जन महत्त्वहीन हो चुका है। स्त्री और पुरुष दोनों वर्ग उत्तेजनाके निरन्तर खुले अवसरके कारण अब शीघ्र उत्तेजनाहीन हो जाते हैं।

इसका एक दुष्परिणाम हुआ है। अब जो जोड़े बनते हैं—प्राय: विषम बनते हैं। जिसके समीप बल है—वह किसी प्रकारका हो, वह किसी अल्पवयस्कको बलात् अपने साथ कर लेता है। आवश्यक नहीं है कि वृद्ध पदाधिकारी कोई बालिका ही साथ रखे अथवा वृद्धा सम्पत्तिशालिनीको युवक ही अच्छा लगे। यह उसकी रुचिपर है कि उसे विपरीत वर्ग स्वीकार है या स्ववर्ग; किंतु उसके द्वारा जो अधिकृत किया गया है, वह उसके अत्याचार, उत्पीड़नको सहते रहनेको विवश है।

उत्पीड़नकी चर्चा व्यर्थ है। वही तो मनोरञ्जनका मुख्य साधन है और उसीपर समाजका आधार है। जो समूह बनते हैं, वे इस मुख्य स्वार्थको सिद्ध करनेके लिए ही बना करते हैं। सीधे शब्दोंमें शक्ति पानेके लिए बनते हैं; क्योंकि बिना शक्तिके तो उत्पीड़न सहना पड़ता है और आप जानते हैं कि मनोरञ्जन उसका नहीं होता, जो उत्पीड़न सहनेको विवश बनाया जाता है।

'तुम यहाँ क्यों बैठे हो ?' कोई सशक्त कभी कह दे सकता है किसीसे।

'वृद्ध हूँ, थक गया हूँ।' वह रोगी भी हो सकता है। भयकातर वाणीमें ही कहेगा—'आप नहीं चाहते तो चला जाता हूँ।'

'यह स्थान तुम्हारे बापका है ?' पूछनेवाला तो मनोरञ्जन करनेपर उतारू है। वह ऐसे उसे कैसे चले जाने देगा—'यहाँ बैठे ही क्यों ?'

'आप जानते हैं कि आजकल बाप तो किसीका होता नहीं, हो भी तो उसका पता नहीं लगता। मुझे अपनी माँका भी पता नहीं है।' वह वृद्ध या रोगी गिड़गिड़ा ही सकता है—'मुझसे भूल हुई, क्षमा करें।'

अब यह तो उस छेड़नेवालेकी रुचिपर निर्भर है कि उसका मनोरञ्जन कितने-से हो जायगा। दुर्बल बहुत भाग्यशाली होगा, यदि उसके गिड़गिड़ानेसे दूसरेका अहंकार संतुष्ट हो जाय। दो-एक गाली, थप्पड़, ठोकर भी सहना पड़े तो सौभाग्य ही मानेगा वह। अन्यथा यह अब साधारण घटना है कि उसे यातना दे-देकर मारा जायगा। तनिक गन्ध पाते ही एक समूह वहाँ एकत्र हो जायगा और लोग चिल्लाने लगेंगे—'मारो इसे ! मार डालो !'

मनोरञ्जनके इन साधनोंमें बहुत वृद्धि हुई है। कम ही स्त्रियाँ अब शिशु उत्पन्न करती हैं। शिशु तो वैज्ञानिक प्रयोगशालामें पलते-बढ़ते और बनते भी हैं। अवश्य यह स्त्रियोंकी सहज दुर्बलता है कि उनका संतोष शिशुको पाले बिना नहीं होता। जनसंख्या बढ़नेका यह भी बड़ा कारण है कि स्त्रियाँ बराबर बच्चोंकी माँग करती रहती हैं। अन्यथा अब तो कुछ दिनका गर्भ प्रयोगशाला ले लेती है और वहीं शिशु बनता है; किंतु अधिकांश स्त्रियोंका आग्रह है कि उनके उदरसे लिया गया भ्रूण नष्ट न किया जाय।

भ्रूण स्थापित ही न हो, ऐसे साधनोंका प्रयोग नहीं करेंगी और उसे नष्ट भी नहीं करने देंगी। कठिनाई यह कि पालना भी कम पसंद करेंगी अधिक समयतक। शिशु भी तो मनोरञ्जनका ही साधन है। उससे मन भरा और वह शिशुशालाको समर्पित हुआ। दूसरा भ्रूण-धारणमें इस कारण भी उन्हें समय बहुत कम लगा करता है।

'आपका यह कार्य कर देनेकी क्षमता मुझमें नहीं है।' प्रशासनके अधिकारी या किसी समूहके अग्रणीके पास जाना हो तो बहुत सोचकर, पता लगाकर जाइये। वह कह दे सकता है—'किंतु आपका काम मैं अटका सकता हूँ, बिगाड़ सकता हूँ। ऐसा न करूँ, इसके लिए आप क्या दे रहे हैं ?'

'आप ऐसा क्यों करेंगे ?' यदि आप यह पूछते हैं तो बहुत बुद्धिहीन हैं।

'यह अच्छा पूछा आपने ?' वह हँसेगा—'आप इधर-उधर दौड़ेंगे, भटकेंगे तो मेरा मनोरञ्जन होगा या नहीं ? सम्भव है, हारकर आप मुझे अन्तमें भेंट भी दें। ऐसा न भी हो तो मुझे प्रसन्नता तो प्राप्त होगी ही।'

पुराने समयमें भी कुछ ऐसे लोग होते थे, जो अन्धोंको, अपरिचितोंको विपरीत मार्ग बताकर प्रसन्न होते थे; किंतु अब तो मनोरञ्जनका साधन ही मुख्य यह हो गया है कि दूसरेको रोते, भटकते, आघात सहते, तड़पते देखा जाय ।

यह मत कहिये कि प्रशासन नहीं है समाजमें । इतने विकसित समाजमें प्रशासन नहीं रहेगा ? प्रशासन तो है और पूरे विश्वकी प्रशासन-व्यवस्था एक ही है; किंतु प्रशासनके पदाधिकारी आकाशसे तो टपका नहीं करते । प्रशासक भी समाजमें-से ही आते हैं । समाजमें जो प्रवृत्ति है, उनमें अधिक होती है; क्योंकि उनको सुविधा अधिक प्राप्त है ।

प्रशासनको अपनेको बनाये रखनेके लिए बहुत-से कार्य करने पड़ते हैं । अतः सरकार बड़े मेलोंका आयोजन करती है । उसमें ढूँढ़कर बलवान् व्यक्तियोंका युद्ध आयोजित करती है । इससे क्या बिगड़ता है कि ऐसे आयोजनोंमें पराजित तड़पा-तड़पाकर मारा जाता है और विजयी भी आहत, अपङ्ग हो जाता है । सामान्य लोगोंका मनोरञ्जन तो होता ही है, प्रशासनको अच्छी आय हो जाया करती है ।

पदाधिकारी या दलोंके अग्रणी अपनी व्यक्तिगत रुचिके कारण या अपने वर्गको, अपने उच्चधिकारीको प्रसन्न करनेके लिए कब अवैध आयोजन नहीं किया करते थे ? अब ऐसे आयोजन बहुत अधिक होते हैं, इतना ही तो अन्तर पड़ा है ।

मनोरञ्जनका साधन कभी आखेट था और पुरुषोंके लिए स्त्रियाँ थीं । अब आखेटका तो कुछ अर्थ नहीं रहा । अवश्य कुछ अधिकारी पुरुषों या स्त्रियोंके लिए बालक-बालिकाओंकी व्यवस्था करनी पड़ती है; किंतु यह नगण्य बात है । बिना कठिनाईके हो जाती है ।

मनोरञ्जनकी मुख्य बात है–मनुष्यको तड़पकर मरते देखना । वह जितना बलवान् होगा, उतनी उछल-कूद अधिक करेगा । उतना अधिक मनोरञ्जन कर सकेगा । ऐसे मनोरञ्जनकी व्यवस्था अपने उच्चाधिकारी अथवा किसी सम्मानितके लिए करनी पड़ती है । इसमें अवश्य प्रतिस्पर्धी अथवा कुछ गुटोंके अग्रणी हल्ला मचाते हैं । वैसे सामान्य लोग तो प्रसन्न

होते हैं। उत्साहपूर्वक प्रदर्शन देखते हैं। अनेक बार तो दर्शकोंमें-से ही कुछको पकड़कर प्रदर्शनकर्ता बना देना पड़ता है।

मनोरञ्जनके नामपर अत्यन्त नृशंसतापूर्वक मनुष्योंको मारना मुख्य अङ्ग हो गया है और समाज जब मनोरञ्जनपर आश्रित है; इसे कैसे रोका जा सकता है।■

■ स्पेनका साँड, युद्ध और घूँसेबाजी (बॉक्सिग) इस दिशामें अभी आरम्भिक प्रगति है। नग्नताके प्रचारका भी प्रारम्भ ही है।

न अन्न, न आश्रय–

व्यवस्था कल्पना बन चुकी थी। प्रशासन परिवर्तित होता रहता था और पदारूढ़ सदा आशङ्कित रहते थे कि उन्हें कब पदच्युत होना पड़ेगा। फलतः पदारूढ़ होते ही वे पहला काम करते थे, अपना और अपने लोगोंको सम्पन्न बनानेका। और उनका दूसरा मुख्य काम था, अपने प्रतिपक्षीके सहायक-समर्थकोंको जहाँतक हो सके विपन्न बनाकर नष्ट कर देना।

अपना कौन कबतक अपना रहेगा, इसका ठिकाना तो था नहीं; अतः प्रत्येक सशङ्क रहता था और तनिक-सी शङ्का होनेपर उसे नष्ट करनेके कूट प्रयत्नमें लग जाता था, जिससे किंचित् भी आशङ्का हो। भले वह आशङ्का अकारण ही हो।

मनुष्यमें सत्य, सदाचार स्वप्न हो गया था। आज अभी कही हुई बात निर्लज्जतापूर्वक घंटेभर पीछे वह अस्वीकार कर देता था। किसीको कोई भी आश्वासन देनेमें कोई हिचक नहीं थी। अतः बहुत भव्य घोषणाएँ होती थीं; किंतु सब जानते थे कि उनका कुछ अर्थ नहीं है।

मनुष्य धन चाहता था—चाहे-जैसे धन पानेके प्रयत्नमें रहता था। पदाधिकारी बहुत बड़ी योजनाएँ बनाते थे; क्योंकि बड़ी योजनाओंके बिना अधिक धन अपने लिए बचानेका उपाय नहीं था।

इस छीना-झपटीमें उत्पादन नष्ट होते चले जा रहे थे। समाजके इस पतनको रोकनेका कोई उपाय दीखता नहीं था। कहीं-किसी विरोधका अर्थ था, उत्पीड़ित होना; क्योंकि सामान्यजन केवल स्वार्थ देखता था। चाटुकारी और हत्या उसके लिए सामान्य बात थी।

पदारूढ़ अपने समर्थक ही सर्वत्र रखना चाहता था; अतः किसी भी कर्मचारीके स्थायित्वका कुछ अर्थ नहीं था। इस संदिग्ध स्थितिने सबको अत्यन्त स्वार्थी बना दिया था।

सच तो यह है कि कोई सम्पन्न नहीं था। छीना-झपटीमें उत्पादनका बड़ा भाग व्यर्थ नष्ट होता था। सम्पन्नता भी तो सापेक्ष वस्तु है। भिक्षुकोंमें भी वे सम्पन्न माने जाते हैं, जिनके समीप दो चिथड़े अधिक हैं। ऐसी ही सम्पन्नता शेष रह गयी थी।

पदाधिकारी और उनके कृपापात्र सम्पन्न समझे जाते थे; किंतु सचमुच सम्पन्न केवल साधु बचे थे। पदाधिकारी और उनके सहायक तो आये दिन परिवर्तित होते रहते थे। उन्हें पदच्युत करनेवाला उनको विपन्न बनानेका कोई यत्न बाकी नहीं रखता था। केवल साधुओंकी स्थिति कम परिवर्तित होती थी।

सफद, लाल, गेरुए, पीले, नीले, काले और अनेक मिश्रित रंगोंके वस्त्रोंवाले, जटाधारी भी, मुण्डित सिर भी और सुसभ्य वेषवाले भी—कोई निश्चित वेष नहीं रह गया; इतनेपर भी आश्चर्य यह कि केवल वेष भी साधुता था। लच्छेदार भाषा, व्याख्यान-कौशल, ऊँचे स्वरमें अपनी बात कहने, झगड़ पड़नेकी प्रस्तुति और विचित्र-विचित्र दम्भ—असंख्य साधु हो गये थे। उनमें वे सब घोषित अवतार थे, जो कोई इन्द्रजाल दिखा सकते थे, या जिनके दस भी शिष्य, अनुयायी थे। आवश्यक नहीं था कि उनमें श्रद्धा भी हो। केवल वे दूसरोंके सम्मुख श्रद्धालु दिखावें अपनेको, इतना ही पर्याप्त था।■

सबसे सुरक्षित, हानिके भयसे हीन व्यवसाय साधुता हो गया था। दरिद्रता और उपार्जनकी अयोग्यता साधु हो जानेके पर्याप्त कारण थे। धर्म, सदाचार, ईश्वर और योगके सम्बन्धमें कुछ जानकारी आवश्यक थी

■ वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः।
धर्मन्यायव्यवस्थायां कारण बलमेव हि॥
दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुर्मायैव व्याबहारिके।
लिङ्गमेवाश्रमख्यातावन्योन्यापत्तिकारणम्।
अवृत्या न्यायदौर्बल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः॥
अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु।
—श्रीमद्भागवत १२।२।२–५

और फिर तो अवतार न भी बने तो त्रिकालज्ञ, समाधिसिद्ध, ब्रह्मवेत्ता, आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर-साक्षात्कार-सम्पन्न, पुराने ऋषि-मुनियोंसे कहीं बड़े घोषित करनेमें कठिनाई थी नहीं। कुछ पढ़े भी हुए तो चार चाँद लग गये।

समाज जितना स्वार्थी होता है, उसे उतने अधिक आशीर्वाद देनेवालों और चमत्कार करनेवालोंकी आवश्यकता होती है। लोभी, लोलुप और अधर्मी आशीर्वाद चाहता है। भले वह मुखसे ईश्वरकी भी सत्ता न माने, भीतरसे भूतका भी उसे भय लगता है और वह किसी भी प्रेतकी कृपाका भूखा होता है। ऐसे समाजमें दम्भकी खेती भली प्रकार पनपती है।

अन्नकी बात ही व्यर्थ है। उस समय केवल कुछ घासें बची थीं— बहुधा दुर्गन्धित घासें और उनमें बीज आते थे। सरसों-जैसा बीज बहुत बड़ा माना जाता था। इन बीजोंको आप अन्न कहना चाहें तो कह लें, वैसे ये भी अलभ्य अन्न थे। इनकी चोरी-डकैती होती थी। अन्न अर्थात् आहारके नामपर जो था, वह कितने खाद्याखाद्य-तत्त्वोंका मिश्रण था, कहना कठिन है; क्योंकि जिनको भी सुयोग था, वे पदार्थोंमें कोई मिश्रण करनेमें हिचकते नहीं थे। उन्हें उपभोक्ताके जीवनकी नहीं, अपने उपार्जनकी चिन्ता थी। उपभोक्ता अर्थात् सामान्य व्यक्तिका इतना ही क्या कम सौभाग्य था कि उसे भव्य नामवाले कुछ पदार्थ पेटमें डालनेको मिल जाते थे।

उस दिन एक भीड़ एक बड़े संग्रहालयमें घुस गयी। किसी प्रकार उन्होंने सशस्त्र यन्त्र-प्रहरियों (रॉवटों) को गिराकर निष्क्रिय कर दिया; क्योंकि प्रहरी, पुलिस तो मानव रखे नहीं जा सकते थे। मानव वेतन माँगता है, संगठन बनाकर आन्दोलन करता है, किसीका पक्षपाती बन जाता है और प्रमाद करता है, कर्तव्यके समय अनुपस्थित रहता है या सो जाता है।

यन्त्र-मानवका मस्तिष्क कितना भी परिष्कृत बनाओ, वह सोचनेकी सीमा रखता है। मनुष्य उसे निष्क्रिय कर ही देते हैं। वैसे भी यन्त्र-मानव बढ़ाये नहीं जा सकते। अपने पक्षधरोंको भी स्थान देना पड़ता है। प्रहरी-जैसे कार्य यन्त्र-मानव करता है।

संग्रहालयकी वस्तुएँ उठाकर भीड़ने बाहर फेंक दीं और उसमें जिसकी जहाँ सींग समायी, उसने वहाँ अड्डा जमाया। धक्का-मुक्की ही नहीं हुई, इस स्थान पानेके संघर्षमें अनेक दबे, मरे, कुचले और जो कहीं नहीं जम सके तो पत्थर या जो हाथमें आया, चलाने लगे। पूरी रात संघर्ष चलता रहा।

'मनुष्य आश्रयहीन भटकता रहे और निर्जीव चित्रों, खण्डित मूर्तियों तथा ऐसी ही सड़ी-गली वस्तुओंकी सुरक्षाके लिए भव्य भवन बनें, यह उचित नहीं है।' अनेक पत्रोंने इस प्रकारके अग्रलेख लिखे। कई स्वयम्भू नेता आगे आ गये आन्दोलन करने।

इस एक घटनाने कला-निकेतनों, रहे-सहे उद्यानोंकी सत्ता समाप्त कर दी। उनके स्थानोंपर भी ऊँची अट्टालिकाएँ बनीं। उनके कबूतरोंके दरबों-जैसे कमरोंमें भी मनुष्य भरे गये। यह चर्चा मत कीजिये कि उनमें किनको आश्रय मिला। अबल अनाश्रितको आश्रय देनेकी बात की जा सकती है, की जानी चाहिये, यदि ऐसी बातसे अपने पक्षके लोगोंको कहीं बसाया जा सके, इस मान्यताका युग था वह।

यह सब आपा-धापी कभी समाप्त होगी, इसकी कोई सम्भावना नहीं लगती थी। समाज जिसे गौरव देता है, उस बातके लिए लोग प्रसन्नतापूर्वक प्राण दे देते हैं। उस समय सम्पन्नता, पद ही सबसे गौरवान्वित था; अतः उसके लिए मर मिटनेकी उत्कट अभिलाषा भी जाग उठी थी।

जो सम्पन्न है, वही कुलीन है, वही सदाचारी है, वही सर्वगुणसम्पन्न है, यह बात कलिके प्रारम्भमें किसी कविने कही थी; किंतु उसे अनुमान भी नहीं होगा कि वह कितने बड़े भावी सत्यकी घोषणा कर रहा है। उसने कहा था—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।
स बुद्धिमान् स कृतधी गुणज्ञः॥

लेकिन उसका **'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति'** सत्य नहीं हो सका। केवल स्वर्ण ही नहीं, अधिकांश धातुएँ तो कबकी घिसकर समाप्त हो

गयीं। यह तो मनुष्यकी बुद्धि है कि वह नवीन-नवीन कृत्रिम पदार्थ बनाती चली आयी और उसने धातुओंके अभावका बोध नहीं होने दिया। ये धातुएँ धरामें घिसकर मिल गयीं; किंतु विज्ञानने जो पदार्थ बनाये, वे सड़ते नहीं हैं। टूटने तथा अनुपयोगी होनेपर भी वे अपनी सत्ता बनाये रखते हैं। अब धरा-गर्भ, सागर उनके कारण इतने भर गये हैं कि विज्ञानके सामने समस्या बन चुकी है।

मनुष्यको आहार और आश्रय, दोनों चाहिये। ये दोनों तो सभी प्राणधारियोंको चाहिये। अनेक कीट बढ़ गये हैं। सागरमें और पृथ्वीमें भी गाड़े गये इस कूड़में अनेक प्रकारके प्राणी पनपे हैं। तिलचट्टे अन्धकारपूर्ण, दुर्गन्धित नालियोंमें भली प्रकार रह लेते हैं। विज्ञानके ज्ञाता प्रयोगमें लगे हैं। मनुष्य बौना बनाया जा सकता है तो ऐसा सक्षम क्यों नहीं बनाया जा सकता कि इन कूड़ेमें पनपनेवाले कीड़ोंका स्थान ले ले। वह अपना आहार भी वहींसे प्राप्त करे और वहीं आश्रय ले। पृथ्वीपर तो न आहार है, न आश्रय। जो थोड़ी सुविधा है, अन्ततः समाजके श्रेष्ठतम जनोंको, बलवानोंको भी तो उसकी आवश्यकता है।

पशु-प्राणी–

अनुभवने अनेक ऐसे तथ्य स्वीकार करनेको मनुष्यको बाध्य किया था, जिन्हें आज हम-आप किसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते। ऐसे ही तथ्योंमें एक है प्राणियोंके अनर्गल-संहारका परित्याग।

मनुष्य अपनी बुद्धि—विज्ञानकी पूरी शक्ति लगाकर जिन प्राणियोंको आज समूल मिटा देना चाहता है, उनमें-से अधिकांश उसीके लिए प्रयोजनीय हो गये थे। वह उनका पालन भले न करता हो, किंतु उनसे पेट भरनेमें भी हिचकता नहीं था। आप जानते हैं कि जिनसे पेट भरता है, उनका आस-पास बढ़ना प्रसन्न करता है। उन्हें मिटाया नहीं, बढ़ाया जाता है।

मिट गयी बेचारी गाय। वह इतनी सीधी कि उसे अपनी सुरक्षा करना कभी आया ही नहीं। मनुष्यको कहाँ किसीका उपकृत होना आया है। इसे तो केवल स्वार्थ-साधनेकी सनक है। अतः इसे बकरियाँ अधिक उपयोगी लगीं। बकरियोंकी प्रजनन-क्षमता और कण्टक-तरुओंसे भी उदरपूर्ति उन्हें बचा ले गयी। वे मनुष्यको दूध और मांस देती थीं। उन्हें पालनेमें कोई अजाशाला भी बनानी आवश्यक नहीं थी।■

एक प्राणिशास्त्रीने लिखा है—'यदि सम्पूर्ण पृथ्वी भस्म हो जाय तो भी उसकी राखकी ढेरीपर चूहा बैठा अपने अगले पैरोंसे अपनी मूँछें सँभालता मिलेगा।'

गणेशजीके इस वाहनमें अपनेको बचा लेने, परिस्थितियोंके अनुकूल बन जाने और अपनी संख्या-वृद्धि करनेकी असीम क्षमता है। उस समय तो यह

■ ....छागप्रायासु धेनुषु।
अणुप्रायास्वोषधीषु शमीप्रायेषु स्थास्नुषु।
—भागवत १२।२।१४-१५

प्रिय प्राणी बन गया था मनुष्योंका। इसकी अनेक जातियाँ विकसित कर ली गयी थीं। यह ऐसा उपयोगी प्राणी कि पॉकेटमें पाला जा सके और चाहे जब जलपान बना लिया जा सके।

केवल मूषक ही नहीं, इनके समान दूसरे भी अनेक प्राणी मनुष्योंको प्रिय हो गये थे। मनुष्य स्वयं बौना बन गया था, अतः हाथी, ऊँट, बैल पालनेकी विडम्बना क्यों करता। बड़े पशुओंको पालनेका स्थान ही कहाँ था। कुत्ते, बिल्लीसे उसे भय लगता था। ये उसके बच्चे ही नहीं, स्वयं उसे भी भक्षण करने लगे तो इन सबको उसने मिटा दिया। वह छोटी जातिके शूकर पालने लगा। आज तो वाराहकी यह जावासे आयी जाति केवल चिकित्साके प्रयोगोंमें काम आती है।

तिलचट्टोंमें भारी जीवनीशक्ति है। वे गंदी, बंद नालियोंमें भी अपनी बस्ती बढ़ा लेते हैं। मनुष्यने सीख लिया कि वे उसके लिए अच्छी आहारदायी उपज हैं। अवश्य ही टिड्डियाँ समाप्त हो गयीं; क्योंकि उन्हें मरुस्थल चाहिये उत्पन्न होनेके लिए और मरुभूमि तो अट्टालिकाओंसे भर चुकी थी।

मनुष्यको ऐसे प्राणियोंका संसर्ग प्रिय था, जो उसके साथ बने भी रहें और आहार-आवासकी अपेक्षा किये बिना बढ़ते रहें। मनुष्य उनसे पेट भरता रहे। पृथ्वीमें जो कृत्रिम पदार्थोंका कूड़ा भूमिपर और जलमें बढ़ता जा रहा था, उसपर पलनेवाले अनेक जीव प्रकृतिने उत्पन्न कर दिये थे। मनुष्यने बहुत शीघ्र उन्हें पहचान लिया और उसमें-से अपने उपयोगके प्राणियोंको पालने लगा।

सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि ऐसे उत्पन्न प्राणियोंमें अधिकांश विषैले थे। प्रकृति पता नहीं, क्यों इन्हें उत्पन्न करती थी। और ये मनुष्योंके मित्र बनना जानते ही नहीं थे। ये तो डंक मारकर या काटकर मनुष्योंको मारते ही थे। मनुष्य इन्हें मार चुका होता, यदि उसे अपने संघर्षसे समय मिलता; किंतु वह अपनी ही समस्याओंमें उलझा था। इसका लाभ इन प्राणियोंको प्राप्त हो गया था।

दार्शनिक ही पागल नहीं होते, वैज्ञानिक भी बहुत बिगड़े-मस्तिष्कके होते हैं। अब यह भी कोई माननेयोग्य बात है कि पृथ्वीपर जो सरीसृप,

थोड़े फुदकनेवाले या दौड़नेवाले प्राणी पैदा हो गये हैं, उन्हें संरक्षण दिया जाय। इन बिगड़े-मस्तिष्क वैज्ञानिकोंका कहना है—'प्रकृतिने ये प्राणी प्लास्टिक-जैसी कृत्रिम वस्तुओंको नष्ट करके मिट्टी बनानेको उत्पन्न किये हैं। ये मनुष्यके परम मित्र माने जाने चाहिये।'

जो काट लें तो शरीरमें प्रदाह हो या मृत्यु हो जाय और जिनको खाया जाय तो खानेवाला स्वयं यमराजका अतिथि बने, उन प्राणियोंको कहीं मित्र माना जा सकता है ? उनका सामूहिक संहार सम्भव नहीं; क्योंकि वे कूड़ेमें पैदा होते-पलते हैं और कूड़ा पैदा न हो, इसका कोई उपाय नहीं। लेकिन साधारण समाजका प्रत्येक मनुष्य इन अपने सहज शत्रुओंको मारनेमें संकोच तो नहीं कर सकता।

प्राणियोंमें परस्पर मित्रता-शत्रुता सदा-से चली आ रही है। मनुष्य तब सचिन्त होता है, जब उसको या उसके उपयोगी प्राणियोंको संकटग्रस्त होना पड़ता है। नवीन विषैले प्राणी बकरियों, चूहों, लघु शूकरोंके लिए संकट तो हैं हीं, मनुष्योंको भी मारते या पीड़ित करते ही रहते थे। अतः मनुष्यको विवश होकर इनसे संघर्ष करते रहना था। इसमें बिगड़े-दिमाग वैज्ञानिकोंकी बात सुननेको समय किसीके पास नहीं था। लेकिन कठिनाई यह थी कि ये मनुष्यके शत्रु भी कम शक्तिशाली नहीं थे। इनकी संख्यावृद्धि तो सम्भवतः दीमकोंके समान होती थी।

आपको प्राणियोंकी गणना ही प्रिय हो तो आप चींटी, दीमक, मक्खी, मच्छर, खटमल गिन सकते हैं। इनमेंसे किसीका लोप नहीं हुआ था। ऐसे और भी अनेक क्षुद्र प्राणी थे, जो मनुष्यकी उपेक्षाके कारण बचे रहे थे। इनको भी यदा-कदा मनुष्य उपयोगी बना लेता था। कोई नहीं जानता कि जो आहार भव्याकारमें बाजारमें आ रहा है, उसमें इन प्राणियोंका प्रयोग होता है या नहीं। प्रगतिशील मनुष्य इन पोंगापंथी पुरानी रूढ़ियोंको बहुत पीछे छोड़ चुका था। वह ऐसी बातोंकी चर्चा भी सुननेको प्रस्तुत नहीं था।

मूषकको बुद्धिके देवताका वाहन बतलानेवाले अवश्य बुद्धिमान् रहे होंगे। यह छोटा-सा प्राणी सर्वप्रिय बन गया था। इसके अत्यन्त छोटे-से

लेकर पर्याप्त बड़े संस्करण विज्ञानने कर दिये थे और मनुष्य बड़े प्रेमसे इसे पालने लगा था। साधु कहे जानेवाले भी अब इससे समझौता कर चुके थे। प्रतिष्ठित, पदारूढ़ समाज तो पहलेसे मूषक-मोहसे मण्डित था।

अवश्य ही निम्नवर्गको केवल मूषक-पालनसे संतुष्ट रहना पड़ता था। समाजमें सदा ऐसे लोग अधिक रहे हैं, किंतु इसमें नाक-भौं कोई क्यों सिकोड़े ? क्या कभी भी सबको हाथी पालनेकी सुविधा रही है ? अतः अब यदि बकरी पालना केवल बड़े कहे जानेवालोंके लिए ही सम्भव है या कुछ दुग्ध-मांस-व्यवसायी ही यह कर पाते हैं तो इसमें अशोभन क्या है ? हाँ, अब दूध और मांसका भेद मिट गया है। दोनोंका व्यवसाय एक साथ चलने लगा है। पहले भी तो सब्जी और अंडा एक दूकानपर बिकता था।

पक्षियोंमें केवल मुर्गियाँ बच रही हैं; क्योंकि वे मनुष्यके लिए बहुत उपयोगी हैं। वे अपनी संख्या-वृद्धि भी शीघ्र कर लेती हैं और उनको कूड़ेमें भी आहार मिल जाता है। अवश्य ही मुर्गी पालना भी बड़े लोगों या व्यापारियोंके लिए ही सम्भव है। जिन्हें गलियोंमें सोकर जीवन व्यतीत करना है, वे मूषक-पालनपर संतोष कर लेते हैं। यही ऐसा प्राणी है, जो उनका भी साथ दे सकता है।

सारस, बत्तख तथा और भी कुछ जलपक्षी पहले हुआ करते थे, यह सुना जाता है; किंतु अब तो समुद्रोंमें भी कहीं-कोई पक्षी नहीं रहा। भूमिपर पीनेका पानी ही दुर्लभ है तो जलपक्षी कहाँ रहेंगे ?

जलकी चर्चा आ गयी तो कहना ही पड़ता है कि यह अत्यन्त प्रयोजनीय पदार्थ बड़े श्रमसे प्राप्त होता है। अब भी भूमिमें स्थान-स्थानपर ऐसे गहरे गड्ढे मिलते हैं, जो भरे नहीं गये। उनमें कूड़ा भरा गया। कहते हैं कि उनसे कभी जल निकला करता था। विश्वास नहीं होता कि भूमिके भीतर कभी जल रहता होगा। जल तो बहुत कठिनाईसे समुद्रका अथवा नालियोंका शुद्ध करके प्राप्त होता है अब नालियोंका जल अवश्य एकत्र किया जाता है; किंतु उन पक्के सरोवरोंतक तो किसीको जाने नहीं दिया जाता। उनसे दुर्गन्धि भी बहुत आती है।

कभी-कभी आकाशमें मेघ भी आते हैं। अधिकांश तो उनमें गड़गड़ाहट और चमक ही होती है,* किंतु कभी बूँदें भी पड़ती हैं। प्रशासनने बहुत चेतावनी दी कि मेघोंसे गिरती बूँदें विषैली होती हैं। उन्हें शरीरपर लेने अथवा उनको एकत्र करके पीनेसे अनेक रोग होते हैं; किंतु लोग प्रशासनकी बातें सुनते कहाँ हैं। यही लोगोंकी समझमें नहीं आता कि पूरा वायुमण्डल विषैला हो गया है। ये बूँदें वह विष साथ ले आती हैं।

मनुष्यकी बहुत बड़ी विवशता है इसमें भी। असंख्य मनुष्य आवासहीन हैं। वे वर्षाके ऐसे अवसरपर कहाँ छिपें? उनमें आकाशसे आते पानीको किसी प्रकार संग्रह करनेकी होड़ स्वाभाविक है। पीनेके लिए पर्याप्त पानी प्राप्त होता तो वे यह क्यों करते?

वर्षाकी चर्चा इस प्रसंगमें इसलिये भी आवश्यक है कि ऐसी प्रत्येक वर्षाके पश्चात् असंख्य प्राणी मरते हैं। मनुष्य तो मरते ही हैं, चूहे, बकरियाँ, सूअर और दूसरे भी प्राणी मरते हैं। इतने मरते हैं कि उनके शव हटाना समस्या हो जाती है। उनका मांस विषैला हो जाता है। वर्षा तो प्राणियोंके संहारका प्रतीक हो गयी है। उसे कोई पसंद करता; किंतु वह कभी-कभी आती तो है ही। काश, उसे रोका जा सकता।

---

* विद्युत्प्रायेषु मेघेषु—

—भागवत १२।२।१५

वनस्पति-

अत्यधिक आवश्यकता है मनुष्यको अपने जीवित बने रहनेके लिए वनस्पतियोंकी; क्योंकि प्राणदायी वायु तो वनस्पति ही बनाया करते हैं। प्राणवायु (ऑक्सिजन) के बिना न प्राणी जीवित रहते, न अग्नि जलती। मनुष्यने तो अनेक प्रकारकी भट्ठियाँ बनाकर इस वायुका भी विनाश ही किया है।

कोई प्राणी प्राणवायु (ऑक्सिजन) उत्पन्न नहीं करता। सबको प्राण-धारणके लिए इसकी आवश्यकता है। इसका अर्थ है कि प्राणी इसका व्यय ही करते हैं। मनुष्यने बहुत पहले अनुभव कर ली वनस्पतिकी आवश्यकता; किंतु वह अपनी परिस्थितियोंसे विवश दीर्घकालतक वनोंका विनाश करता रहा।

वर्षा और वनस्पति परस्पर आश्रित हैं, यह बात भी मनुष्यने समझ ली थी। वृक्ष बचे रहेंगे तो वर्षा होगी और वर्षा होगी तो वृक्ष बचेंगे, यह सत्य भी समझमें आ गया; किंतु काम इससे चला नहीं। जब मनुष्यने बहुत कड़ाईके साथ वृक्षोंको बचानेका निश्चय किया, बहुत देर हो चुकी थी। बचानेके लिए वृक्ष ही नहीं बचे थे।

वृक्षोंका सर्वथा विनाश हो गया होता तो पृथ्वी प्राणिशून्य होती। वृक्ष बचे थे; किंतु ऐसे ही बचे थे कि उन्हें वृक्ष कहनेमें भी संकोच होता है। बड़ा वृक्ष माना जाता था शमी। उसीके समान दूसरे थोड़े कण्टक-तरु बचे थे, जिनमें बहुत अधिक जीवनीशक्ति है, जो मरुस्थलमें भी मजेसे लहराते हैं।

बिना कण्टकके भी कुछ पौधे थे, उनमें प्रधान था आक। अन्यथा झरबेरी, जवासा, कटेरी-जैसे वनस्पति बचे थे। मनुष्योंको बहुत प्रिय हो गया था थूहर (कैक्टस); उसकी सैकड़ों छोटी-बड़ी जातियाँ थीं। बड़े आदरसे उसे उगाया जाता था और जिनके समीप भी रहनेको कक्ष थे, उनके कक्षका एक कोना अवश्य थूहरके लिए सुरक्षित रहता था।

थूहर सभ्यता, संस्कृति, सुरुचि, शौककी ही वस्तु नहीं थी, वह आवश्यकता बन चुका था। उस समय भवनोंमें खिड़कियाँ नहीं बनती थीं। वे बनती तो थीं, किंतु ऐसी कि उन्हें खोला न जा सके। पारदर्शी प्लास्टिककी खिड़कियाँ प्रकाश देनेमात्रका काम करती थीं; क्योंकि बाहरकी वायु बहुत दूषित थी, कमरोंमें वातायन बनाना व्यर्थ था। कमरोंकी वायुको शुद्ध रखनेका काम थूहर करते थे। वे पर्याप्त प्राणवायु बना लेते थे।

समाजका बड़ा भाग सदा साधनहीन रहा है। उस समय तो बहुत अधिक लोग थे, जिनके पास रहनेको कोई स्थान नहीं था। ऐसे लोगोंको कहीं भी पड़े रहना पड़ता था। ये लोग गलियोंमें और दूसरे स्थानोंमें भी ऐसा स्थान ढूँढ़ते थे, जहाँ थूहर न हों तो शमी या कम-से-कम झरबेरियाँ तो हों; क्योंकि वनस्पतिरहित स्थानमें मनुष्यका दम घुटता था।

प्रशासनने ही प्रयत्न नहीं किया, सर्वसाधारणने भी प्रयत्न किया कि वनस्पतिवर्ग बढ़ाया जाय। इसका तो उपाय नहीं था कि स्थान बहुत कम रिक्त रह गया था और पानी था ही नहीं; किंतु जहाँ भी सम्भव था, मनुष्यने कोई-न-कोई वनस्पति उगानेका प्रयत्न किया था।

गलियोंमें, गंदे नाले-नालियोंके किनारे अधिक हरे, सघन थे। भले वहाँ शमी न हो, छोटी झाड़ियाँ तो थीं। अधिकांश कँटीली झाड़ियाँ; किंतु उनसे बकरियोंको आहार प्राप्त हो जाता था और मनुष्योंको प्राणवायु मिल रही थी। अतः उनको उखाड़ना, काटना सामाजिक अपराध माना जाता था। शासन ही नहीं, आस-पासके लोग भी वनस्पतिको नष्ट करनेवालेको दण्ड देनेमें चूकते नहीं थे।

पहले कोई समय था, जब पृथ्वीपर बड़े जनहीन मरुस्थल थे। उनके मध्य कहीं-कहीं जल होता था और वहीं खजूरके वृक्षोंकी हरियाली होती थी। इन हरितस्थानों (नखलिस्तानों) पर अधिकारके लिए मरुस्थलवासी लोगोंके समूह परस्पर युद्ध किया करते थे। अब तो पूरी धरा ही मरुस्थल बन चुकी थी। अवश्य ऐसी मरुस्थल, जिसमें सब-कहीं ऊँची अट्टालिकाएँ खड़ी थीं।

अब यदि कोई मूर्खता करे तो उसका दण्ड दूसरा तो नहीं भोगेगा। कोई आकर्षण-शक्ति-अवरोधक-पेटिकाके सहारे उड़ सकता है, घूम सकता

है; किंतु यदि किसी हरित भूमिमें उतरता है तो वहाँ आश्रय लेनेवाले लोग उसका विरोध तो करेंगे ही। ऐसा बिरोध संघर्ष उत्पन्न करेगा। संघर्षमें कुछ आहत या हत हों, यह साधारण बात है। प्रशासन या समाज ऐसी साधारण बातोंपर ध्यान नहीं दिया करता।

कठिनाई तो सदा सब-कहीं रही है। प्रकृतिमें संघर्ष तो शाश्वत है। इस सत्यको मनुष्यने अन्य प्राणियोंके समान अब समझ लिया है और यह सत्य भी समझ लिया है कि संख्याबल सबसे बड़ा बल है। अत: अब प्रत्येक अपने समर्थक जुटानेका प्रयत्न करता ही रहता है।

जो सबसे महत्वपूर्ण वस्तु होती है, उसके लिए सबसे अधिक संघर्ष करना पड़ता है। प्राणवायु-प्रदाता हरितस्थान बहुत महत्वपूर्ण हैं। भले वे कण्टक-बहुल हों और संकीर्ण, अस्वच्छ अथवा असम स्थलोंमें हों। उनको प्राप्त करने और उनपर अपना अधिकार बनाये रखनेके लिए संघर्ष चलता रहता है।

मनुष्यको–सामान्य मनुष्यको जो आज आश्रयहीन है, ऐसे स्थलोंमें केवल मनुष्योंसे ही संघर्ष नहीं करना है, अनेक कीड़े, सरीसृप भी ऐसे स्थानोंपर ही आर्कषित होते हैं। इनमें बड़ा वर्ग विषैला है। इन जीवोंसे भी सतर्क रहना पड़ता है। इनसे सुरक्षित रहना बहुत कठिन है।

जिन्हें आवास प्राप्त हैं, भले अकेला छोटा कक्ष या कक्षका कोना ही प्राप्त है, वे भूल जाते हैं कि भवनोंसे बाहर गलियोंमें उनके समान ही मनुष्य निराश्रय भटक रहे हैं। वे न भी भूल जायँ तो कर क्या सकते हैं। कितनोंको अपने समीप वे समेटेंगे ?

आश्रयप्राप्त वर्ग भी किसी क्षण अपनी सुविधासे वञ्चित हो सकता है। इसलिये उसे बाहर भटकनेवाले मनुष्योंकी चिन्ता भले न हो, हरित-स्थानोंकी चिन्ता सदा रहती है। वह बहुत भाग्यशाली है, जो जीवनमें कहीं एक शमी या बबूल उगा पाता है और उसे सुरक्षित कर सकता है। अधिकांश लोगोंको तो इस वनस्पति उगानेके पुण्य कार्यमें भी केवल आक या झरबेरी-जैसे क्षुप उगाकर ही संतोष करना पड़ता है।

आक, झरबेरी-जैसी झाड़ियाँ भी बहुत कम सुरक्षित रह पाती हैं। बकरियाँ इन्हें चर लेती हैं और बकरियाँ तो बड़े लोगोंकी होती हैं। साधारण व्यक्ति बकरियोंको ताड़ित करके बड़ोंका कोप-भाजन ही तो बनेगा। केवल विषैले कीट या सरीसृप बड़े लोगोंके विरोधकी चिन्ता नहीं करते। उनके काटनेसे कोई बकरी मरती है तो समीपके साधारण लोग प्रसन्न ही होते हैं।

साधारण लोगोंने अनेक बार आन्दोलन किया। अनेक बार उनका विरोध बहुत सक्रिय हुआ। ऐसे अवसरोंपर बकरियाँ मारी भी बहुत गयीं; किंतु इस सबसे बकरी-पालन बंद नहीं हुआ। हो भी नहीं सकता था; क्योंकि जो भी पद या प्रतिष्ठा पा लेता था, वह पहले वनस्पति-रक्षाके नामपर चाहे जितना बकरी-पालनका विरोधी रहा हो, स्वयं सुविधा मिलते ही बकरीके दूध और मांसका लोभ छोड़ नहीं पाता था। वह पालन करनेवालोंका पक्षपाती बन जाता था। सम्भवतः इसीलिये बकरीको पुराने कोशकारोंने 'अजा' कहा है; क्योंकि बकरीकी मायामें बहुत शीघ्र लोग पड़ जाते हैं और वनस्पतिका महत्व भूल जाते हैं।

मनुष्य बहुत चीमड़ प्राणी है। इसमें कठिन स्थितियोंके अनुरूप अपनेको बना लेनेकी इतनी बड़ी क्षमता है कि केवल चूहा इस विषयमें मनुष्यकी समता कर सकता है। मनुष्य कितनी कम प्राणवायु पाकर भी जीवित और सक्रिय बना रह सकता है, इस सम्बन्धमें बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी अनुमान करनेमें भूल ही गये।

मनुष्यके फेफड़े दृढ़ हुए, परिवर्तित भी हुए एक बड़ी सीमातक और मनुष्य अत्यल्प प्राणवायुमें भी भली प्रकार जीवित है। इस स्थिततिक पहुँचनेमें जो दुर्बल थे, उनको तो मरना ही था; किंतु मनुकी संतान बनी रही है।

अवश्य ही वैज्ञानिक अब भी बुरी भविष्यवाणियाँ करते हैं; किंतु मनुष्यने उनकी यह बात मान ली है कि वनस्पतियोंको बचाओ और बढ़ाओ! अब पानी उत्पन्न करना तो मनुष्यके वशका नहीं। जो वनस्पति बिना पानीके अर्थात् अत्यल्प पानीपर पनप सकती हैं, जिनकी जड़ें पृथ्वीके भीतर

बहुत नीचे जाकर जल ले सकती हैं, मनुष्य उनको उगाने-बचानेमें लगा है। वे अधिकांश कण्टकपूर्ण भले हों, प्राणवायु तो बनाती ही हैं।

बकरियाँ केवल वनस्पति चरती ही नहीं हैं, वे वनस्पति बढ़ाती भी हैं। अनेक क्षुपोंके बीज बकरीके पेटमें पहुँचे बिना उगते ही नहीं; अतः बकरियोंका विरोध भी बहुत प्रबल नहीं हो पाता। धराका जो अत्यल्प भाग बचा है, वहाँ कण्टक-झाड़ियाँ मनुष्यने भर दी हैं। यही अब करना सम्भव था।
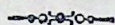
अल्पायु-

अभी ईसाकी बीसवीं शतीको पूरा होनेमें दो दशकसे कुछ अधिक ही शेष थे कि समाचारपत्रोंने साढ़े तीन वर्षकी बालिकाके माता बननेका समाचार दिया। यह समाचार भी कहीं विदेशका नहीं था, भारतके मध्यप्रदेशान्तर्गत मानकपुरके ही समीपका था। इस संदर्भमें समाचारपत्रोंने विश्वकी अनेक अल्पवयस्का माताओंका उद्धरण दिया था।

जीव-वैज्ञानिकोंका सीधा-सा गणित है कि जो प्राणी जितनी अवस्थामें प्रजनन प्रारम्भ करता है, उसकी आयु प्रजनन प्रारम्भ करनेकी आयुसे लगभग छः गुनी होती है।

कलियुगके अन्तिम कालमें बड़े उत्साहसे समाचार-साधन यह प्रसारित करते थे कि पृथ्वीके अमुक स्थानका अमुक व्यक्ति तीस वर्षकी दीर्घायु प्राप्त कर चुका है। उसके चित्र प्रकाशित किये जाते। उसे प्रशासन पुरस्कृत करता। यह अवस्था भी कलियुगकी समाप्तिसे कुछ शताब्दी पूर्वकी थी। अन्तिम शताब्दियोंमें तो यह आश्चर्यजनक दीर्घायु बीस वर्षकी मानी जाने लगी।*

यह परमायु तो किन्हीं अपवादरूप सौभाग्यशाली लोगोंको ही प्राप्त होती थी। सामान्यायु पन्द्रह-सोलह वर्ष भी कम ही प्राप्त करते थे; क्योंकि मरणके इतने अधिक निमित्त हो गये थे कि उसमें जीवित रहना ही आश्चर्यजनक था।

भूख-प्यास तो प्रधान मारक थे ही; क्योंकि आहार और पानी दुष्प्राप्य हो रहे थे, दूसरे भी असंख्य निमित्त थे। दम घुटकर मर जाना साधारण घटना थी। प्राणवायुकी प्राप्ति केवल कण्टक-तरु या क्षुपोंके समीप सम्भव थी। वहाँसे उसे अपने फेफड़ोंमें भरकर कहीं भी आहार-

---

* **त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम्।**

—भागवत १२।२।११

पानीके अन्वेषणमें जाना अनिवार्य था और वह वायु किसी क्षण समाप्त हो जाती थी।

विषैले कीट और सरीसृप सर्वत्र फैले थे। उनका सफाया करनेका प्रयत्न सफल नहीं हो रहा था। इन सबके अतिरिक्त परस्पर संघर्ष, महामारियाँ और प्राकृतिक उपद्रव सामूहिक संहार करते थे।

अराजकताका रोना व्यर्थ है। प्रशासक और असामाजिक तत्त्वोंमें कोई सीमारेखा नहीं रही थी। हत्या, लूट आदिके विरुद्ध प्रशासन कुछ कर नहीं सकता था; क्योंकि किसी भी उपद्रवीके पक्षधर अनेक प्रभावशाली पुरुष ही नहीं, दल भी हो जाते थे। फलतः प्रशासन निष्क्रियप्राय था।

अनुशासन, कर्तव्यपालन, श्रम केवल यन्त्र-मानव (रौबट) में शेष था; किंतु उनका भी दुरुपयोग होता था। उनकी भी बड़ी संख्या-उत्पादनमें बहुत कठिनाई थी। जो दल भी पदारूढ़ होता, वही उन्हें बढ़ाना चाहता; किंतु शेष सब उसका विरोध करते थे। मनुष्योंकी अत्यधिक बढ़ी जनसंख्याको देखते उनका उत्पादन उचित नहीं था। इस उचित-अनुचितकी चिन्ता तो किसीको नहीं थी; किंतु कोई सामूहिक विरोधका सामना करनेका साहस भी नहीं करता था।

बार-बार अकाल और महामारी, बार-बार भूकम्प, निरन्तरका परस्पर संघर्ष—यह सब न होता तो पता नहीं, पृथ्वी कबकी मनुष्योंकी भीड़से ठसाठस भर चुकी होती और मनुष्य परस्परके दबावसे ही समाप्त हो गये होते; किंतु मनुष्य इतना विचित्र प्राणी है कि इन सबको आशीर्वाद देनेके स्थानपर इनसे भयातुर हो चुका था और वैज्ञानिक जुटे थे मनुष्यकी सत्ता बचाये रहनेका सिरतोड़ श्रम करनेमें।

वैज्ञानिकोंको एक ही मार्ग मनुष्यकी सत्ता बचानेका सूझा था और वह था संख्या-वृद्धि। वे यह मानकर चल रहे थे कि विनाशसे उत्पादन अधिक रहेगा तो मनुष्यकी सत्ता अवश्य शेष रहेगी।

वैज्ञानिकोंकी भी विवशता थी। संतानका मोह पशु-पक्षीतकमें होता है तो मनुष्य ही कैसे इसे त्याग सकता है। कितना भी विपन्न व्यक्ति हो,

उसे संतान तो चाहिये ही। फिर जब गर्भधारणका दीर्घकालीन क्लेश न उठाना पड़े, कोई लड़की सजीव गुड्डा या गुड़िया प्राप्त करनेका प्रलोभन क्या सहज छोड़ देगी ?

'पता नहीं, कब मर जायँ !' यह आशङ्का अहर्निश सिरपर सवार रहती है तो संतानका मुख शीघ्र देखनेकी आतुरता भी प्रबल होती है। जब कुल आयु ही पन्द्रह-सोलह वर्षकी हो तो तीन-चार वर्षका होते ही संतान-प्राप्तिकी उत्सुकता प्रबल हो जाती थी और जब समाज कोई सामूहिक आवश्यकता अनुभव करता है तो प्रशासनको उसे पूरा करनेकी व्यवस्था भी करनी पड़ती है।

वैसे भी जैसा वातावरण था, उसमें शारीरिक सुख प्राप्त करनेकी इच्छा शैशवमें ही जागने लगती थी। मानव-शिशु आस-पास जो देखता है, चेष्टा-सक्षम होनेपर उसीका अनुकरण करने लगता है। अतः बालिकाओंमें गर्भस्थापन अत्यल्प आयुमें होने लगा था। वैज्ञानिक और चिकित्सक तो केवल उनकी यह हठ पूरी करते थे कि उन्हें उनके उदरमें आया शिशु प्रदान किया जाय।

अवश्य ही बालिकाओंकी यह माँग बहुत कम पूरी की जा पाती थी। बहुत अधिक तो गर्भस्राव ही होता था और पर्याप्त सावधानी, चिकित्साके पश्चात् भी विकृत अथवा अपूर्ण भ्रूण ही प्रयोगशालासे प्राप्त होता था। उसे नष्ट कर देनेके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं होता था।

बड़ी कठिनाई यह भी थी कि बालिका माताएँ अमुक रंग, आकारका ही बालक पानेका हठ करती थीं। जैसे वस्त्राभूषणके सम्बन्धमें फैशन चलता है, बालकोंके सम्बन्धमें भी चलने लगा था। प्रशासन और प्रयोगशालाओंने अपनी सुविधाओंके लिए ही प्रचारके द्वारा ऐसा आग्रह उत्पन्न किया था; किंतु अब वह उन्हींके लिए विपत्ति बन गया था। कहीं कोई विचित्र बालक दीख जाय तो वैसा ही पानेका आग्रह बढ़ जाता था बालिकाओंमें।

इस आग्रहकी पूर्तिमें बहुत-से बालक मर जाते थे। बदलेजानेकी बात तो करना व्यर्थ है। प्रयोगशालाओंके चिकित्सक सम्पन्न, सशक्त वर्गकी

माँग सदासे पूरा करते आये हैं और असहाय, असमर्थको सदा रोकर संतोष करना पड़ता है।

सम्पन्न, सशक्त वर्गकी संतान-वृद्धि उसे भी सामान्य लोगोंमें पहुँचा देती है, यह सत्य मनुष्यसे कभी छिपा नहीं था; किंतु मनुष्यके मोहने कभी उसे इस ओर ध्यान नहीं देने दिया। यह अवस्था अन्ततक परिवर्तित नहीं हो सकी।

सामान्यजन तो उस समय सर्वथा उपेक्षणीय थे ही। उनकी संतानोंको शैशवमें ही चूहे न खा लें, कोई सरीसृप या विषैला कीट न काट ले, दम घुटकर वे न मरें तो बड़े होनेका अवसर पाते थे; किंतु प्रकृति जिनको जितनी कठिनाईमें डालती है, उन्हें उतनी ही उदारतासे जीवनी-शक्ति भी वितरित करती है। अतः सदासे उपेक्षित, निर्धनवर्गकी संतान-वृद्धि सम्पन्नोंसे अधिक होती रही है। इनके शिशु कूड़ेके डेरोंमें मूषकों और सरीसृपोंके मध्य भी पलते-बढ़ते रहते हैं।

संतान-उत्पादनकी अवस्था जैसे-जैसे घटती गयी, मनुष्यकी आयु भी वैसे-वैसे घटती गयी; किंतु दूसरा प्राकृतिक नियम भी साथ ही चलता रहा। वह यह कि अल्पायु प्राणी बहुत अधिक संतानोत्पादन करते हैं। मनुष्यकी संख्या-वृद्धि भी इसी कारण बहुत बढ़ती जाती थी। सम्भवतः इसी संतुलनको बनाये रखनेके लिए महामारियाँ और दूसरे उपद्रव बार-बार होने लगे थे।

मनुष्यकी सामान्य आयु उस समय पन्द्रह-सोलह वर्षकी हो गयी थी; किंतु स्वाभाविक मृत्यु कितने प्रतिशतको प्राप्त होती थी, यह कहना बहुत कठिन है। अधिकांश व्यक्ति इससे बहुत पहले मर जाते थे। इसमें समाजके विशिष्ठ बलवान्, सम्पन्न व्यक्ति भी थे। सामान्यजन तो कीटप्राय माने जाते थे। उनकी मृत्युपर कौन ध्यान देने बैठा था।

जब आयु अल्प होती है तो युवावस्था शीघ्र आती है और शरीर तथा मस्तिष्क भी उसी अनुपातमें शीघ्र सशक्त, कार्यक्षम हो जाता है। पशु-पक्षियोंकी ओर ध्यान देनेपर आप यह बात सरलतासे समझ लेंगे और

इससे यह भी अनुमान कर लेंगे कि कलिके अन्तमें मनुष्यका बालक कितनी कम आयुमें अपनेसे बड़ोंको वृद्ध मानने लगता था।

शिक्षा तो तब केवल सोते समय शिशुओंके मस्तिष्कमें भर दी जाती थी। प्रशासनमें जो लोग थे, पक्षपात बहुत करते थे इस विषयमें; किंतु विरोधी दलोंका दबाव उन्हें विवश किये रहता था कि अपनेको उदार तथा सबका हितैषी दिखलाते रहें। फलत: सामान्यजनोंके शिशुओंको भी उनकी माताको देनेके पूर्व निश्चित सीमातक शिक्षित कर ही दिया जाता था। मस्तिष्कमें इस शिक्षाके अज्ञात-प्रवेश कराये जानेका परिणाम था कि मानव-शिशु भी कुछ महीनोंका होते ही प्रौढ़ोंके समान व्यवहार करने लगता था। सामान्य व्यवहार उसे औरोंसे कम ही सीखना पड़ता था।

जब शरीर शीघ्र विकसित हो जाय, बुद्धि सामान्य ज्ञान सम्पन्न हो तो महत्त्वाकांक्षाएँ और ऐन्द्रियक लालसाएँ शीघ्र बढ़ती हैं और इन्हें प्राप्त करनेके लिए अविवेकपूर्ण उद्दाम उत्साह जागता है। इस स्थितिने भी संघर्ष बहुत बढ़ा दिया था।

उस समयके पशु-कीटप्राय समाजका बहुत वर्णन न करना ही अच्छा है। मनुष्य अल्पायु तो हुआ ही, विवेकहीन हो गया और क्षुद्र जीवोंकी भाँति केवल ऐन्द्रियक भोग पाने तथा जीवन-बचानेके संघर्षमें लगा रहने लगा।

अधिदेव-जगत्-

अपना स्थूल जगत् ही सम्पूर्ण सत्य है, यह बात अधूरी है। इसका अर्थ होगा कि आप चार्वाक्‌की भाँति चेतनाको केवल भौतिक पदार्थोंके संयोगोंसे उत्पन्न शक्ति मानेंगे। विज्ञान भले ऐसा माने; किंतु यह अनुभव और विचार दोनोंके विरुद्ध है। आप अपने शरीरको ही सब-कुछ स्वीकार करने और अपने आत्मचेतनको अस्वीकार करनेको प्रस्तुत हैं ?

सनातन धर्मकी मान्यता है कि जीव अनादि है। जब संसारमें कोई स्थूल वस्तु आकार लेती है, तब उसे अपना माननेवाला एक चेतन उसमें आकर बस जाता है। माताके गर्भमें पहले शरीर ही बनता है। उसमें जीवनका प्राकट्य पीछे होता है। वैसे यह चेतन सर्वत्र है, सर्वव्यापी है। यह केवल स्थूलको 'मैं' मानकर उसका अभिमानी बनना है।

जैसे देहको 'मैं' या 'मेरा' माननेवाला जीव है, वैसे ही गृह, ग्राम, नगर एवं वृक्षादिको 'मैं' माननेवाले उनके अधिदेवता हैं। इसीलिये गृह-प्रतिष्ठाके समय क्षेत्रपालका पूजन होता है। ग्राम-देवताओंका भी पूजन समय-समयपर ग्रामवासी करते हैं।

केवल भारतमें आधिदैवत सत्ताका ज्ञान सर्वज्ञ महर्षियोंने प्राप्त किया। भारतसे बाहर उत्पन्न होनेवाले धर्मोंमें तो पुनर्जन्मकी ही प्रतीति नहीं, आधिदैवत सत्ता तो उससे भी सूक्ष्म है।

आश्चर्यकी ही बात है कि आजके वैज्ञानिक युगमें बहुत विकसित देशोंमें भी भूत-प्रेतकी सत्ता मानी जाती है। भले सार्वजनिक रूपमें स्वीकार न की गयी हो; किंतु उसे अस्वीकार करनेका भी किसीके पास उपाय नहीं है; क्योंकि प्रायः सभी देशोंमें इनका अनुभव, इनका उपद्रव अनेक स्थानोंपर पाया जाता है। केवल वे लोग जो सौभाग्यवश इनके सम्पर्कमें आनेसे बचे हैं, विचित्र तर्क करते हैं।

भूत हैं और देवता नहीं हैं, भगवान् नहीं है, यह अद्भुत युक्ति यदि आपके सिरमें समा सकती है तो आपसे कुछ कहना अनावश्यक है। मैं तो कल्कि अवतार और कलियुगके अन्तकी बात ही पुराणोंपर आस्था करके कर रहा हूँ।

अधिदेवताओंकी—पृथ्वीके ग्राम, नगर आदिके अधिदेवताओंकी एक सभा एकत्र हुई। कहाँ एकत्र हुई, यह मत पूछिये; क्योंकि आप जिस देश, कालसे परिचित हैं, उसका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे आपके कमरेमें, आपके शरीरमें भी एकत्र हो जायँ तो आपको उनकी इच्छाके विना कभी उनकी अनुभूति नहीं होगी।

आपके शरीरमें अधिदेवता तो हैं। आपके आँखके देवता आदित्य, नाकके देवता नासत्य (अश्विनीकुमार), त्वकके देवता वायु, हाथके देवता इन्द्रादिका कभी कोई अनुभव किया है? अतः इस बातको छोड़िये। अधिदेवताओंकी सभाकी ही बात की जाय।

'हमने प्रत्यक्षरूपसे तो पृथ्वी तभी छोड़ दी, जब कलिके ढाई सहस्र वर्ष बीते थे।' पुर, ग्राम, नगरके अधिदेवताओंके अग्रणी बोले—'अब तो पृथ्वीपर नगर-ग्रामका विभाजन ही नहीं रहा। यह जो एकाकार गड्मड् मनुष्योंका आवास है पृथ्वीपर, उसमें हमारी कोई अभिरुचि नहीं।'

'आप-सबकी तटस्थता उचित है।' सभापति देवराज इन्द्रने कहा—'हम मनुष्योंके निष्काम सेवक नहीं हैं। हमारी पूजा-अर्चा मनुष्यने त्याग दी तो हम उससे निरपेक्ष होंगे ही। देवत्वके निरपेक्ष होनेपर वह पशुप्राय रह गया है; किन्तु अब धरापर श्रीहरिका अवतरण होना है। आप सबसे केवल यह कहना है कि पृथ्वीसे अपना अप्रत्यक्ष सम्पर्क भी समाप्त कर लें। वहाँ अब स्वच्छताका कार्यक्रम हम सुरोंको ही करना है। अतः आप सब इस प्रयासमें लगे रुद्रानुचरोंको आशीर्वाद दें।'

'ओम्! हमारा आशीर्वाद उन्हें।' एक स्वरसे स्वीकृति मिल गयी—'अब हमारी कोई आसक्ति धराके वर्तमान प्राणियोंसे नहीं है। आप रोग, शोक, महामारी तथा उत्पातके अधिदेवताओंको अनुमति दे सकते हैं। हममें कोई विरोध नहीं करेगा।'

'हमें आपत्ति है।' एक ओरसे यह सुनायी पड़ा—'हम अपने स्थानोंसे संतुष्ट हैं। हम वहाँ कोई उत्पात् सहन नहीं करेंगे।'

'आप सब तो सर्वेश्वरके द्वारा ही सुरक्षित हैं।' इन्द्रने देखा कि धराके थोड़े-से सात्त्विक स्थानोंके अधिदेवता क्षुब्ध हो रहे हैं तो उन्हें आश्वासन दिया—'आप सबके सहयोगसे ही तो धरापर सतयुगका अवतरण होगा। आप ही इन शेष सब अधिदेवताओंको शरण देंगे। आपके क्षेत्रोंका अतिक्रमण करनेका साहस कोई नहीं करेगा; किंतु अपने क्षेत्रोंसे बाहर कुछ हो तो आप अप्रसन्न नहीं होंगे।'

'हमारी कोई अभिरुचि नरकप्राय: उन क्षेत्रोंमें नहीं।' वह विशिष्टवर्ग संतुष्ट हो गया। 'धराके इन जघन्य प्राणियोंने तो हमें अपने क्षेत्रोंमें ही सीमित रहनेको विवश करके बंदी बना रखा है।'

अधिदेवताओंके इस वर्गका अनुमान आप आगेके वर्णनसे कर लेंगे। आगे पृथ्वीके सुरक्षित सात्त्विक क्षेत्रोंका वर्णन करना ही है।

'लोकपाल मेरे साथ किंचित् पीछे सक्रिय होंगे।' देवराजने रुद्रानुचरोंकी भीड़की ओर मुख किया। यहीं यह स्पष्ट कर दूँ कि यह सभा कोई मनुष्योंके समान आकृतिधारियोंकी सभा नहीं थी और न उसमें हमारी-आपकी भाँति शब्द-व्यवहार चल रहा था। यह ऐसी सभा थी, जिसमें सबके शरीर तो पाञ्चभौतिक थे; किंतु पार्थिव (पृथ्वीतत्त्व-प्रधान) नहीं थे। कुछ वायुतत्त्व-प्रधान थे और कुछ अग्नितत्त्व-प्रधान। उनमें भी तारतम्य था। उनकी बातचीत भी केवल संकल्पकी भाषामें ही चल रही थी। केवल विचारकी भाषा—शब्द-व्यवहार वहाँ अनावश्यक था।

'मनुष्यों द्वारा प्रसारित प्रदूषण बहुत व्यापक है।' शक्रने शिवगणोंको भी सावधान करना आवश्यक समझा—'पृथ्वीके सहजतत्त्व और सब धातुएँ समाप्त करके उन्होंने विकृत वस्तुएँ बना ली हैं। इस विकृतिका विस्तार वायु और समुद्रतक सर्वत्र है। इन सबको समाप्त करके धराकी सागरकी, वायुकी सहज स्थिति स्थापित करनी है। आप-सबको यदि सहायताकी अपेक्षा हो तो मैं भगवती महाकालिकासे प्रार्थना करूँ?'

'अभी प्रलयका काल तो प्रर्याप्त दूर है और असुरोंमें भी कोई अकल्पनीय तपः शक्ति सम्पन्न नहीं हुआ है। तब आप उन महाकालकी संगिनीको क्यों क्षुब्ध करेंगे ?' भैरवने भर्त्सना की शक्रकी—'कीटप्राय मनुष्य, उसकी बुद्धिने उसे दिग्भ्रान्त कर दिया; किंतु उसके विज्ञानका अर्थ क्या ? उसका सम्पूर्ण वैभव केवल कृमि चाट जा सकते हैं। इसमें मुझे भी धरातक जाना नहीं पड़ेगा।'

'ध्वंस करते समय आप केवल इतना स्मरण रखेंगे कि भगवान् कल्कि कदाचित् आपके कार्यके मध्य ही आ जायँ।' शक्रने सावधान किया—'उनका इंगित हम सभीके लिए सम्मान्य है।'

'हमारा सौभाग्य !' भैरव अपने स्वभावके अनुसार अट्टहास करके हँसे—'अबतक हमें सदा वीरभद्र, चामुण्डादिने नेतृत्व दिया है। हमारे आराध्य धूर्जटि प्रभु तो अम्ब महाकालीके साथ जब प्रलय-ताण्डव करते हैं तो हम सब मात्र दर्शक होकर रह जाते हैं। इस बार सृष्टिके पालक जो सदा हमें नियन्त्रित ही करते रहे हैं, हमें नेतृष्व देंगे। उनका सान्निध्य प्राप्त होगा। अपनी सृष्टि वे स्वयं सँभाल लेंगे। मेरा और मेरे परिकरोंका स्वभाव बनाना-बचाना नहीं है। हमें मिटाना ही आता है और हम इसीलिये तो सुरोंके साथी हैं कि हम केवल विकृतियाँ मिटाते हैं।'

'प्रकृति तो परमपुरुषकी।' शक्रने सम्मानपूर्वक सिर झुकाया—'उसे मिटाया कैसे जा सकता है। उसे मिटानेका मन कोई करे, अर्थात् स्वयं अपनी सत्ता समाप्त करना स्वीकार करें। आप-सब तो सदासे हम सुरोंके सहायक हैं और अब धरापर सतयुगकी स्थापनासे पूर्व स्वच्छ भूमि प्रदान करनेको समुद्यत हैं। भगवान् गणाधिप आपको आशीर्वाद देंगे।'

'वे हमारे अपने हैं।' भैरव किंचित् कुपित हुए—'मनुष्योंने उनके वाहनको पाल रखा है; किंतु उनका दुरुपयोग करते हैं। अब ये वाहन ही हमारे अग्रदूत बनेंगे।'

अधिदेवताओंकी वह सभा विसर्जित हुई, उस समय निश्चित हो चुका था कि धरापर कुछ विशिष्ट कीटाणु प्रकट होंगे और वे चूहोंके

माध्यमसे ही सर्वत्र फैलेंगे। वे मूषकोंको मारनेके स्थानपर उन्हें पुष्ट करेंगे।

मनुष्य तो बहुत पहले ही सुर-सत्ताके प्रति आस्था खो चुका था। उसे स्वप्न भी नहीं आ सकता था कि अधिदेव जगत् उसके प्रति निर्मम हो उठा है। मनुष्यकी—बहुत बड़े वैज्ञानिकोंकी समझमें भी यह नहीं आ रहा था कि इन दिनों क्यों उनसे प्रयोगोंमें भूलें होती हैं।

अपने दम्भमें अन्ध-विश्वासी मनुष्य अब धरापर ऐसे सत्पुरुष कहाँ शेष थे जो अपनी भूलें समझमें आते ही तत्काल स्वीकार करते थे। उन्हें घोषित कर देते थे। अब तो कोई ऐसा करे तो उसे मूर्ख माना जाता। तिरस्कार और ताड़ना मिलती उसे। अतः वैज्ञानिकोंने अपनी भूलोंकी चर्चा ही नहीं की। वे केवल आशा करते रहे कि उन भूलोंका कुपरिणाम कमहोगा—सीमित रहेगा; किंतु यह आशा सदा सफल तो नहीं हुआ करती।

अकाल-महामारी-

'अन्ततः अपने वैज्ञानिक ऐसे कीटाणुओंके आविष्कारमें सफल हो गये हैं, जो पृथ्वीपर बढ़ते कूड़ेको खाकर मिट्टीमें परिवर्तित कर देंगे। ये अपनी संख्या-वृद्धि बहुत शीघ्रतासे करेंगे।' बड़े आडम्बरपूर्वक यह समाचार बहुत अधिक प्रसारित किया गया।

'विज्ञान समुद्रके भीतर बढ़ती गंददीको भी समाप्त करनेमें सफल होने वाला है। समुद्रमें बढ़ते गंदे तेल और विसर्जित रासायनिक कूड़ेको खाकर समाप्त कर देनेवाले जीवाणु ढूँढ़ लिये गये हैं। इनकी संख्या-वृद्धि इतनी तीव्रतासे होती है कि वे पूरे समुद्रमें शीघ्र फैल जायँगे।' यह समाचार भी पूरी धूमधामसे प्रसारित हुआ।

जीवाणु आविष्कृत हुए। प्रयोगशालाओंमें पाले-बढ़ाये गये और अन्तमें उन्हें पृथ्वी और समुद्रमें बिखेर दिया गया। इस सबमें किसीने सोचा ही नहीं कि प्रयोगशालाओंमें कहीं भूल भी हुई हो सकती है। एकबार जब वे जीवाणु पूरी पृथ्वी और सागरमें फैल गये, उन्हें समेटकर नष्ट कर देना सम्भव रहा ?

इस सबका प्रथम परिणाम हुआ कि वर्षा हुई। समुद्रपर फैला तेल घटा तो वाष्प अधिक बनी और भरपूर मेघ उठे। लेकिन पृथ्वीपर वनस्पति तो नाममात्रके थे। वन थे नहीं, जो वर्षा को आकर्षित, नियन्त्रित करते हैं। अतः वायुके वेगसे मेघ जिधर पहुँचे, बरसते रहे। डटकर पानी पड़ा वहाँ। भले अन्य स्थान अवर्षणसे सूखते रह गये।

अकाल केवल अवर्षणसे नहीं पड़ता। अतिवृष्टि भी अकाल उत्पन्न करती है और अवर्षणकी अपेक्षा अधिक संहारक होती है। उस समयकी अतिवृष्टि तो अनेक कारणोंसे भयंकर थी।

आकाशमें बहुत दीर्घकालसे अनेक प्रकारके विषैले कण, धुआँ आदि भरा था। वर्षाके साथ वह एक साथ पृथ्वीपर आगया। वह पानी पेय तो

क्या बनता, विषैला था और अधिकांश लोग आश्रयहीन, गलियोंमें रहते थे। अतः उनकी बड़ी संख्या वर्षामें बहकर, डूबकर नहीं भी मरी तो पीछे अनेक रोगोंसे मर गयी।

बहुत दीर्घकालसे वर्षा न होनेके कारण नगर बसाने या भवन-निर्माणमें पानीके बहाव-बचावका ध्यान रखना अनावश्यक हो गया था। अकस्मात् भारी वर्षामें भवनोंका समूह ध्वस्त हो गया। अनेक नगर मिट गये और गलियाँ सरिताएँ बन गयीं।

निम्न स्थलोंमें जो विषैला पानी भरा, उसमें बहकर गलियोंका कूड़ा ही नहीं आया, उसमें मनुष्यों, कीड़ों और चूहों के भी बड़ी संख्यामें शव आये और उनकी स्वच्छता समस्या बन गयी; क्योंकि पानी विषैला था, सड़ानकी गति स्वतः मन्द बन गयी।

भवनोंमें मूषकों और विषैले कीटों, सरीसृपोंकी भरमार हो गयी। वे भारी वर्षासे बचने घुस आये थे। वे भवनोंमें रहनेवालोंके सहयोगी तो थे नहीं, उनके दंश एवं काटनेसे भी बहुत लोग मर रहे थे। यह भी एक भारी समस्या उठ खड़ी हुई कि इन प्राणियोंसे कैसे भवन खाली कराये जावें।

तभी महामारी फूट निकली। उसका भी कोई एक निश्चित रूप नहीं था। वह भी अनेक स्थानोंमें अनेक रूपोंमें प्रकट हुई और सब रूप शीघ्र गतिसे फैलने लगे।

इसी समय पता नहीं, क्या ऐसा हुआ कि आकर्षण-शक्ति अवरोधक-यन्त्र निष्क्रिय हो गये। विश्वके सब वैज्ञानिक इसका कारण ढूँढ़नेमें लगे थे; किंतु मनुष्य पर-कटे-पक्षीके समान हो चुका था। वैज्ञानिकोंके पास भी परस्पर मिलने और एक दूसरेसे सहयोग करनेका कोई उपाय नहीं रह गया था।

भयानक वर्षा, उससे उत्पन्न विषैली वायु और ऐसे ही कारण आकर्षण-शक्ति-अवरोधकोंके निष्क्रिय हो जानेके अनुमान किये जा रहे थे; किंतु यातायातका दूसरा कोई साधन तो कई शतियोंसे रहा नहीं था।

भूमिपर न सड़कें थीं और न प्रशस्त मार्ग। केवल गलियाँ थीं, और वे भी कँटीले क्षुपोंसे भरी पड़ी थीं। उनमें कूड़ा और शव सड़ रहे थे। मनुष्य अपने बनाये विचित्र वैभवोंके इस विनाशमें असहाय, बंदी बन चुका था।

ऊर्जाके अनेक स्रोत उस समय भी थे। लेकिन वे उत्पादन करते थे। यातायात उनपर अवलम्बित नहीं था। यातायात अवरुद्ध हुआ तो उत्पादनके कारखाने अपने-आप बंद होने लगे। उनका उत्पादन कैसे कहीं जाय ? उन्हें तो कार्यकर्ताओंकी कमी होने लगी।

सम्पूर्ण पृथ्वीमें भयानक भुखमरी फैल गयी। जो आहार था भी, उसको आवश्यक स्थलोंतक पहुँचाने एवं वितरणकी व्यवस्था ही नहीं रही।

प्रशासन पहले भी नाममात्रका ही था। अब तो वह भी मिट गया। सबको जब अपने ही प्राणोंको बचानेकी पड़ी हो, अनुशासन और औचित्यका विचार क्या रह पाता है ?

प्राणरक्षा—केवल एक धुन थी सबको और उसके लिए जिसे जो सूझता था, जो सम्भव जान पड़ता था, वह उसे करनेमें हिचकता नहीं था। अतः हत्या, लूट, मार-पीटके अतिरिक्त मृत्यु और क्रन्दनके कारण पृथ्वीका हर कोना असह्य हो गया था।

पृथ्वीकी जनसंख्या बहुत तीव्र गतिसे क्षीण हो रही थी। उच्च अट्टालिकाओंवाले बड़े-बड़े भाग—नगर कहना ठीक नहीं; क्योंकि नगरोंका विभाजन तो बहुत पहले मिट चुका था। बस्तीके विभाजक केवल समुद्र और बड़े पर्वत रहे थे। ऐसे भाग दूर-दूरतक सुनसान बन गये।

मनुष्यको शीघ्र समझ आ गयी कि उच्च स्थलोंपर बने भवन सुरक्षित हैं; किंतु वे भवन रिक्त तो थे नहीं। अतः वे भागते लोगोंकी भीड़के आखेट बने। वहाँ भयंकर संघर्ष लगता था कि कभी समाप्त ही नहीं होगा। एक दल उनपर अधिकार करके ठीक बैठ भी नहीं पाता था कि कहीं दूसरी ओरसे आयी भीड़ आक्रमण कर देती थी। इस परिस्थितिने मनुष्यको अत्यन्त हृदयहीन हिंसक बना डाला था।

महामारी फैली ही थी। भागती भीड़के साथ अछूते स्थानोंमें भी उसका प्रसार बढ़ता जा रहा था। मनुष्य कीड़ोंकी भाँति मर रहे थे और उनके शव हटानेको भी किसीको सुधि नहीं थी।

वर्षा कोई एकबार होकर ही तो रुक नहीं गयी। वह बार-बार हुई, होती रही। उसके क्षेत्र भी बदले। यह भी हुआ कि वर्षाका जल पेय बन गया। लेकिन उसमें बहते, एकत्र शव तथा दूसरी विषैली वस्तुएँ उन्हें पेय रहने कैसे दे सकते थे।

पृथ्वीपर सरोवर बने। भले वे भवनोंके खण्डहरोंसे भरे बने। इतना सब होनेपर भी बहुत कम अपवाद रूप ही स्थान ऐसे बन सके, जिसमें पीने योग्य जल एकत्र हुआ। सबसे पहले उन स्थानोंके समीप चूहों और दूसरे प्राणियोंने अपना आवास बनाया; क्योंकि मनुष्योंकी अपेक्षा अनुकूल स्थान एवं जलवायुको पहचान लेनेकी उनमें प्रकृति-प्रदत्त शक्ति बहुत अधिक थी।

मरुस्थलों और आवास योग्य पहाड़ी ढलानोंकी अवस्था भी कुछ अधिक अच्छी नहीं थी। दीर्घकालसे मनुष्य वर्षाके अनुभवसे ही अपरिचित था। अतः ऐसे स्थानोंपर यदि तीव्र वृष्टि हुई तो उसने पहले ही झटकेमें वहाँके भवनोंको धराशायी कर दिया। जहाँ वर्षा नहीं हुई, वहाँ उजड़े, विस्थापितोंकी भीड़ टूट पड़ी और उनके आक्रमणोंने वहाँका जीवन नारकीय बना डाला।

यह क्रम एकबार प्रारम्भ हुआ तो कई दशक चलता रहा। महामारी रुकनेका नाम नहीं लेती थी। उसका एक रूप शान्त होता था तो कोई दूसरा रूप फूट पड़ता था।

इन सबमें एक बात ही अच्छी हो रही थी और वह यह कि पृथ्वीमें पुनः प्राणवायु प्रचुर हो गयी थी। भारी भट्ठियाँ स्वयं समाप्त हो गयी थीं। पहले पानीने प्राणवायुके अभावकी पूर्ति की और फिर वनस्पति और घास पनपने लगी।

जहाँ-कहीं भी पानी एकत्र हुआ था वहाँ उसके क्षेत्रमें घास उगने लगी। अवश्य ही विषैली घास और कँटीली वनस्पति ही अधिक बढ़ी; किंतु इसने वायुमण्डलमें प्राणवायु बढ़ाया। पृथ्वीपर विस्तीर्ण विषका भी बहुत-कुछ शोषण किया। धरा प्राणधारियोंके उपयुक्त बनने लगी।

वनस्पतिके साथ वर्षाका तो परस्पराश्रित सम्बन्ध है। वनस्पति उत्पन्न हुई, सूख भी गयी तो अगली वनस्पतिके लिए खाद बनी। धराको उर्वरा बनानेमें योगदानही किया उसने।

अद्भुत बात—उस समयके मनुष्यको यह वर्षा और वाणवायुकी वृद्धि भी अनुकूल नहीं पड़ रही थी। वह इससे भी अनेक प्रकारके रोगोंका आखेट हो रहा था। भुखमरीने विवश किया था उसे घास खानेको और अधिकांश तृण, क्षुप विषैले थे। इससे भी मनुष्य मृत्युमुखमें जा रहे थे।

प्रशासन-सम्बन्धी व्यवस्था नष्ट हो ही गयी थी। यातायातके साधन रहे नहीं थे। अतः जो मनुष्य बचे भी थे, वे कोई बड़ा संगठन बनाकर विपत्तिसे बचनेका उपाय करनेमें असमर्थ थे। वे केवल स्थानीय उपाय ही कर सकते थे, जो बहुत अल्प थे। आकस्मिक आपत्तियोंका उनसे सामाना कर पाना सम्भव नहीं था।

कीट-पशु-उपद्रव-

अनेक समस्याएँ मनुष्यकी असावधानीसे उत्पन्न होती हैं। वैज्ञानिकोंने सोचा ही नहीं था कि वे जिन रासायनिक द्रव्यभक्षी कीटोंको बढ़ा रहे हैं, वे कितनी बड़ी समस्या उत्पन्न करेंगे। बहुत सीधा गणित किया था उन्होंने कि जब उनके लिए आहार नहीं रह जायगा, तब उनकी जाति स्वत: समाप्त हो जायगी। यह आशा सफल तो हुई; किंतु सफल होनेसे पूर्व उसने इतना बड़ा बलिदान लिया कि लगभग विज्ञान और मनुष्यता ही समाप्त हो गयी।

वे सूक्ष्म कीट भी अपने अस्तित्त्वके लिए अपनेमें अनेक परिवर्तन कर लेंगे और उनका प्रभाव मूषकोंपर तथा दूसरे सरीसृप-जैसे प्राणियोंपर भी दीर्घकालमें कुछ पड़ेगा, यह सोचा ही नहीं गया था।

आरम्भमें ये कीटाणु बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। उन्होंने रासायनिक द्रव्योंके कूड़ेको शीघ्रतासे स्वच्छ करना प्रारम्भ किया। गलियोंमें पड़ा यह कूड़ा इन कीटाणुओंकी कृपासे कुछ ही समयमें मिट्टी बन गया।

समुद्रमें छोड़े गये कीटाणुओंने अपना कार्य पहले पूरा कर दिया। पानीपर फैला तेल और दूसरी गंदगी वे खा गये। इसीके फलस्वरूप वर्षा प्रारम्भ हुई।

समुद्रतलका कूड़ा जो शताब्दियोंसे मनुष्य डुबाता आया था, वह भी कीटाणुओंकी कृपासे स्वच्छ हुआ। उसका भी रूपान्तरण हो गया। समुद्रमें छोड़े गये ये कीटाणु पृथ्वीपर फैले कीटाणुओंसे दुर्बल निकले। इनका आहार जब समाप्त होने लगा, इनकी जाति भी साथ ही समाप्त होती गयी। इन्होंने कोई बड़ी समस्या उत्पन्न नहीं की। उलटे समुद्रमें बचे-खुचे जलजीव फिर बढ़ने लगे।

समस्या उत्पन्न हुई वर्षा प्रारम्भ होनेके बहुत पीछे। वर्षाने विकराल रूप बना लिया था। बहुत विनाश हुआ उससे। साथ ही कीटाणुओंमें

भी परिवर्तन हुआ। वे जल और भूमि दोनोंपर बढ़नेवाले बन गये। वर्षामें बहकर जो कूड़ा पानीके साथ गड्ढोंमें गया, उनपर भी कीटाणु बढ़ने लगे। साथ ही ध्वस्त भवनोंके मलवेमें भी। इसका एक भयानक कुपरिणाम हुआ कि भवनोंकी भित्तियाँ जिस प्लास्टिकसे बनी थीं, उसका भी वे भक्षण करने लगे।

इन कीटाणुओंके संगका ही कुप्रभाव होगा कि चूहे आकारमें ही बड़े नहीं हुए, उत्पाती भी हो गये और कूड़ेमें छिपे सरीसृप तथा अन्य कीड़े कूड़ा समाप्त होनेपर निराश्रित होकर भवनोंमें आश्रय लेने भागे। वर्षाने उन्हें और भी विवश किया गृहोंमें आनेको।

जो भवन या नगर बचे थे, उनमें यह नवीन विपत्ति आ गयी। वर्षाने इतना ध्वंस किया था कि पृथ्वी या एक महाद्वीप अब एक नगर नहीं रह गया था। नीचे स्थानोंमें जल भर गया। सरोवर और झीलें बनने लगी थीं। सरिताएँ भी पुनः कुछ प्रवाह पकड़ने लगी थीं। कम-से-कम वर्षा होनेके कुछ काल पीछेतक तो उनमें जल रहता ही था।

इन सब उपद्रवोंने मनुष्यकी बस्तियोंको खण्ड-खण्ड कर दिया। अतः अब नगर, ग्रामकी संज्ञा देनेकी स्थिति आने लगी थी। लेकिन ये बस्तियाँ बच गयी थीं, बनायी नहीं गयी थीं। अतः इनमें असंख्य समस्याएँ थीं। आहारकी समस्या सबसे विकट बन चुकी थी। आकर्षण-शक्ति-अवरोधकोंके निष्क्रिय होनेसे मनुष्य केवल पैदल चल सकता था। विज्ञानने जो विचित्र खाद्य बनाये थे, वे अनुपलब्ध हो गये थे। अब तो चूहों और दूसरे सरीसृपोंका आखेट तथा नवीन उगनेवाली वनस्पतियोंमें जो उपयोगी हों, वे ही जीवन-निर्वाहके साधन रह गये थे।

अब ये अवशेष बस्तियाँ बराबर उजड़ रही थीं। कभी इनके आवासी आहारके अभावमें इन्हें स्वयं त्याग देते थे और कभी विवश होते थे त्यागनेको।

अब तो चूहे भी आक्रमण करने लगे थे। वे भी दल बनाकर किसीपर भी टूट पड़ते थे और उसे नोच खाते थे। संख्याबल बहुत बड़ा बल होता है और चूहोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी थी।

चूहोंके अतिरिक्त अनेक छोटे कीड़े और सरीसृप थे। इनमें अधिकांश विषैले थे। इनका उपद्रव अनियन्त्रित हो गया था और अब मनुष्य असहाय था। उसकी बुद्धि-विज्ञानका दम्भ समाप्त हो गया था।

ऐसेमें एक अकल्पित विपत्ति आ गयी। चाहे जब जो भवन भहरा पड़ने लगा। भवनोंकी भित्तियाँ प्लास्टिक-जैसे पदार्थोंसे बनी थीं और कूड़ा भक्षी कीटाणुओंको अपनी जीवन रक्षाके लिए अब इन्हें आहार बनाना था। उन सूक्ष्म कीटाणुओंकी संख्या अनुमानसे बाहर थी। वे बहुत सूक्ष्म थे; किंतु उनकी संहार या भक्षणशक्ति विशाल थी। किसी भवनकी भित्तिपर कहीं छोटा-सा धब्बा दीख जाय तो उसके निवासियोंके पास उस भवनको त्याग देनेके अतिरिक्त उपाय नहीं था। उस धब्बेको मिटाने, वहाँ लगे कीटाणुओंको मारने लगो तो सम्भव है, पूरा भवन सिरपर आ गिरे।

मनुष्यने अपनी बढ़ती जनसंख्याको बसानेका यह उपाय आविष्कृत किया था कि सुदृढ़, पर हल्के पदार्थसे अत्युच्च अट्टालिकाएँ बना लीं। कबूतरोंके दरबेके समान मनुष्य इनमें निश्चिन्त रहने लगे। वैसे तो ये भवन भी अपर्याप्त सिद्ध हुए और मनुष्योंकी बड़ी संख्या भवन-विहीन ही रही; किंतु अब वर्षा आरम्भ हो चुकी थी। कब कहाँ अचानक आकाशसे मेघ फट पड़ेंगे, इसका ठिकाना नहीं था। अतः आश्रय आवश्यक था। भवनोंके लिए भारी मार-काट, संघर्ष हुआ था। इतनेपर भी कुशल नहीं थी। अब इन कूड़ा-भक्षी कीटाणुओंने भवनोंपर आक्रमण आरम्भ कर दिया था।

ये सूक्ष्म जीवाणु भवनके निचली मंजिलकी भित्तियोंपर अथवा नींवपर प्रथम आक्रमण करते थे; क्योंकि यही भाग इनको निकट मिलते थे। एक डेढ़-दो सौ मंजिलका भवन अचानक भड़भड़ाकर गिरेगा तो उसके निवासियों और समीपके भवनोंकी क्या अवस्था होगी, यह आप अनुमान कर लें।

कोई भवन गिरता था तो इन कीटाणुओंका दल वैसे टूट पड़ता था, जैसे मरे पशुके शवपर गीध, कौए, कुत्ते आजकल टूटते हैं; क्योंकि कूड़ा-करकट समाप्त करके ये भुक्खड़ हो गये थे। गिरे भवनके साथ समीपके भवनोंपर भी इनका आक्रमण साथ ही हो जाता था।

इन कीटाणुओंको समाप्त करनेका उपाय था अग्नि लगा देना; किंतु यह उपाय कहनेमें जितना सरल है, उतना ही कठिन था। उस समय ऊर्जाके साधन समाप्त हो गये थे और ईंधन था ही नहीं। भवनोंकी भित्तियाँ पहलेसे अग्निसे अप्रभावित रसायनोंसे बनती थीं।

मनुष्यने शीघ्र समझ लिया कि ये अत्युच्च भवन उसके लिए अनुपयोगी हैं। अब उड़नेका सहारा तो था नहीं। इन उच्च भवनोंपर चढ़ना-उतरना ही समस्या हो गयी थी।

उच्च भवनोंको तोड़कर, गिराकर छोटे मकान, झोंपड़ियाँ बनायी गयी थीं; किंतु इनको कीटाणु नष्ट कर देते थे। चूहों और सरीसृपोंका आक्रमण इनपर अधिक होता था और महामारीका प्रभाव भी इनपर ही अधिक पड़ता था।

असंख्य समस्याएँ सहसा मनुष्यके सम्मुख आ खड़ी हुई थीं। अल्पायु-अल्पशक्ति तो मनुष्य पहले ही हो गया था, अब वैज्ञानिक साधनोंकी समाप्तिके साथ वह एक असहाय पशुप्राय रह गया था। उसे केवल पेट भरने और किसी प्रकार प्राण बचाते रहनेके संघर्षमें रात-दिन लगे रहना था।

मनुष्योंमें जो दुर्बल थे, रोगी थे, वृद्ध थे वे बहुत पहले समाप्त हो गये। अपनी बढ़ी हुई विलासितासे वह अब भी परित्राण नहीं पा सका था और अब स्त्रियोंके लिए गर्भधारण बड़ी विपत्ति बन चुका था; क्योंकि अब न भ्रूण लेकर प्रयोगशालामें पाले जा सकते थे और न गर्भ-निरोधकी औषधियाँ सुलभ थीं। प्रयोगशालाएँ ही नहीं, चिकित्साकी सब सुविधा समाप्त हो गयी थी।

बच्चेके उत्पन्न होनेपर उसकी ही नहीं, माताकी सुरक्षा भी अत्यन्त कठिन थी। अब चूहे और दूसरे कीट, सरीसृप रक्तकी गन्ध मिलते ही आक्रमण करते थे। इनकी विशाल संख्यासे बचपाना बहुत कठिन था।

विडम्बना यह थी कि समीपके दूसरे मनुष्य सहायता करनेके स्थानपर प्रसन्न होते थे; क्योंकि ऐसे अवसरोंपर वे चूहों तथा अन्य उपयोगी

जीवोंका खुलकर आखेट कर सकते थे। इससे उनके अनेक दिनोंके आहारकी समस्या सुलझ जाती थी।

इस प्रकार मनुष्य अत्यन्त स्वार्थी, क्रूर और निर्दय हो गया था। उसमें केवल वे लोग बचते थे, जिनमें शारीरिक शक्ति अधिक थी अथवा जो बुद्धिकी दृष्टिसे पर्याप्त अधिक कुटिल तथा सावधान थे।

मनुष्योंमें सभी विस्थापित थे। सबको एक-से-दूसरे स्थानोंको भागते रहना था। इस भाग-दौड़में जो अभी सहयोगी बनते थे, वे दो घड़ी पीछे शत्रु सिद्ध हो सकते थे।

मनुष्य परस्पर भी शत्रु था और छोटे पशु, सरीसृप, कीट तो उसके शत्रु थे ही। अतः सर्वत्र भय, आशङ्का, संघर्ष व्याप्त था संसारमें। सुख और शान्ति भी कुछ होती होगी, यह मनुष्य सोच भी नहीं सकता था।

प्रेत-पूजा-

असहाय होनेपर मनुष्य अलौकिक आश्रयका अन्वेषण करता है; किंतु यदि जीवनमें संयम, सात्त्विकता न रही हो तो अभाग्य उसे उस समय भी ईश्वरका स्मरण नहीं करने देता। वह केवल चमत्कारोंकी ओर आकर्षित होता है।

मनुष्योंमें मनोरञ्जन-जीवियोंने कलियुगके प्रारम्भमें ही प्रेत-पूजा भी प्रारम्भ की। कर-कौशल (हाथकी सफाई) और साधारण मानसिक शक्तिके चमत्कारोंमें विशिष्टता उत्पन्न करनेके लिए इसका आश्रय लिया गया।

राजस-तामस तन्त्र यामल और डामर पहलेसे प्रचलित थे। आसुरी-साधना भी दैवत-साधना के समान अनादि है। असंस्कृत वन्य एवं अशिक्षित वर्गमें इसका प्रचलन सदासे रहा; किंतु जैसे-जैसे समाज सात्त्विकतासे दूर होकर स्वार्थान्ध होता गया, वैसे-वैसे उसे प्रलोभन देकर भटकानेवाले चमत्कारी पुरुष बढ़ते गये। अवस्था यहाँतक आ गयी कि जो पहले केवल बालकोंका मनोरञ्जन करके भिक्षा माँगते थे, उसी कोटिके; किंतु शिक्षित, चतुर लोगोंने अपनेको भगवान् घोषित कर दिया और उनकी पूजा-प्रतिष्ठा बढ़ती ही चली गयी।

स्वार्थान्ध, इन्द्रियलोलुप, धर्माधर्म-विवेक-शून्य पुरुषको अपनी सुरक्षा एवं सफलताके लिए आशीर्वाद चाहिये। अनुगामी भी चाहिये ही। अतः वह कभी आस्थासे और कभी दिखावेके लिए चमत्कारी प्रसिद्ध लोगोंके पास जाता है। वह दिखावेके लिए भी जाय तो उसे सामान्यजन आस्थावान् मानेंगे और जिसके पास जाता है, उसकी महत्ता तो बढ़ती ही है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि कलिके अन्तमें (साधुओंकी) साधु-वेषधारियोंकी कहना चाहिये; क्योंकि सचमुचके साधुके लिए तो समाजमें तब स्थान ही शेष नहीं रहा था, पर इन वेषधारियोंकी संख्या

बहुत बढ़ गयी थी। वेष भी कोई विशिष्ट नहीं रहा था। सब रंग और सब प्रकारके वस्त्र साधु-समाज ग्राह्य मान चुका था। केवल साधु होनेके लिए आवश्यक था कि वह अपनेको किसी साधुका शिष्य घोषित करे या भगवान् ही बन जाय। लेकिन भगवान् बननेके लिए कुछ थोड़ा चमत्कार अथवा पर्याप्त वाक्चातुर्य आवश्यक था। अनुगामी तो अपने-आप एकत्र हो जाते थे, यदि उन्हें सुख-सुविधा देकर साथ रखना उसे आता हो।

कलियुगमें ऐसे अकर्मण्य श्रम-विमुख लोगोंकी ही बहुलता थी, जो पठित-अपठित, दोनों प्रकारके थे। उन्हें उत्तम आवास, अच्छा आहार बिना श्रम प्राप्त होता रहे और अवैध-ऐन्द्रियक संतुष्टिकी भी कुछ सुविधा हो तो वे किसीको भी भगवान् मानकर उसका जयघोष करते, उसके इंगितका पालन करते थे।

केवल वाक्चातुर्य और अनुगामियोंको सुविधा देकर भी बहुत सिद्ध और भगवान् थे समाजमें; किंतु पर्याप्त बड़ा भगवान् बननेके लिए कुछ थोड़ी चमत्कारशक्ति भी आवश्यक थी। यह-शक्ति न होनेपर भी स्वयं और अनुगामी वर्ग इसके बहुत बड़ी होनेकी घोषणा तो करता ही रहता था। कुछ थोड़ी शक्ति हो, तब तो चार-चाँद ही लग गये।

मानसिक शक्ति भी कुछ संयम-साधन चाहती है। अतः प्रेत-पूजा बहुत प्रिय हो गयी थी। उसमें असंयत आहार-विहारको पूरा अवकाश था। इसे तन्त्र-साधनका भव्य नाम भी दिया जा सकता था और इससे आतंक भी उत्पन्न किया जा सकता था। समाजमें सात्त्विक साधक रहे नहीं थे, अतः प्रेतसिद्धको कोई भय नहीं था। सात्त्विक साधकके सामीप्यसे प्रेत निष्क्रिय होता है और कष्टानुभव करके अपने आराधकपर कुपित भी हो सकता है।

समाजमें सहस्रशः ऐसे सिद्ध और भगवान् हो गये थे। उनके अनेक स्थानोंपर भव्य भवन होने आवश्यक ही थे, जिन्हें आश्रम कहा जाता था। ऐसे आश्रमोंके अधिष्ठाताकी बात छोड़िये, उसके आश्रितोंको भी आधुनिकतम सुविधाएँ तथा भोग उपलब्ध रहते थे।

सबसे अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली वर्ग यह साधु या भगवानोंका समुदाय था। लेकिन इसमें परस्पर संघर्ष भी बहुत अधिक था। कोई

भगवान् किसी दूसरे भगवान्को भगवान् तो मान ही नहीं सकता था, साधु भी नहीं मानता था। सब दूसरोंको धूर्त, पाखण्डी कहते थे।

आपको स्मरण दिला दूँ कि यह परम्परा भी नवीन नहीं थी। द्वापरान्तमें श्रीकृष्णको भी दो नकली वासुदेव बननेवालोंसे युद्ध करना पड़ा था। एक पौण्ड्रक और दूसरा शृगाल।■ भगवान् बुद्धके समयमें भी दूसरे चार और लोगोंने 'शास्ता' घोषित किया अपनेको और हजरत मुहम्मद साहबको भी नकली पैगम्बरोंको मिटाना पड़ा था।

उस समयके ये भगवान् ही प्रशासनके पदोंपर किसीको आरूढ़ करते या गिराते रहे थे। किसीके समर्थक कोई भगवान् तो दूसरोंके दूसरे। किसी भी उदीयमान दलको आशीर्वाद देने और समर्थन पानेके लिए भगवान्का अभाव नहीं था।

प्रायः सब अपनेको कल्कि घोषित करनेवाले भगवान् थे; किंतु उनमेंसे अधिकांशको तलवार पकड़ना नहीं आता था और अश्व तो उस समय शतियोंसे कहीं दीखता नहीं था। अतः अश्वका अर्थ भी सबने पृथक्-पृथक् किया था और उसके अनुसार आकर्षण-शक्ति-अवरोधकसे चलनेवाले अपने वाहनका आकार बनाया था।

प्रेत-पूजामें आवश्यक-द्रव्य मांस और मदिरा उस समय दुर्लभ नहीं थी। इसमें अत्यन्त पवित्र माना जानेवाला बकरेका मांस प्रयुक्त होता था; क्योंकि साधारण जन तो मूषक-मांससे संतोष करनेवाले थे। बकरा तो केवल बड़े लोगोंको सुलभ होता था। मदिरा अवश्य उस समय सर्वप्रिय वस्तु थी; किंतु वह मूषक-मांसको सड़ाकर और कुछ जातिके थूहरोंके गूदेके संयोगसे बनती थी। बड़े लोग और ये भगवान्-बने लोग भी कुछ समुद्री जीवों और समुद्री काईसे बनी मदिरा प्रयोग करते थे।

आप जानते ही हैं कि भगवान् कभी मरते नहीं। वे मनुष्यरूपमें प्रकट हों तो अन्तर्हित हो जाते हैं (श्रीराम और श्रीकृष्ण) इतने उदार नहीं थे कि अपना श्रीविग्रह छोड़ जाते; किंतु आधुनिक भगवान् भक्तोंके लिए

■ इनका पूरा वर्णन 'श्रीद्वारकाधीश' में है।

श्रीविग्रह छोड़ जाते हैं। श्रद्धालु भक्त उनके चिन्यम शरीरपर भव्य समाधियाँ बनवाते हैं, जो भक्तोंके भरण-पोषणका अच्छा माध्यम बनी रहती हैं।

अनेक धर्मोंमें कयामतके समय सब कब्रसे उठ खड़े होंगे, यह स्वीकृत है। बहुत भगवान् भविष्यवाणी कर जाते हैं या उनके भक्त आस्था करते हैं कि उनके भगवान् दिव्य समाधिमें हैं। अवसर आने पर वे उसी शरीरसे पुनः प्रकट होंगे।

आसन्न प्रलयकी भविष्यवाणी तो अधिकांश भगवान् करते ही हैं। जो अपनेको कल्कि घोषित करते थे, वे तो स्वयंको ही उस प्रलयका माध्यम कहते थे। यह धराका दुर्भाग्य कि जब वर्षा प्रारम्भ हुई तो ऐसे भगवानोंमें-से भी बहुतसे अदृश्य हो गये। उनके आश्रम उनसे आज्ञा लिए बिना, उनके अनजानमें ही ढह पड़े और जो भगदड़ मची, उसमें उनका चिन्मय शरीर सँभालने, उसपर समाधि बनानेका उनके भक्तोंको समय ही नहीं मिला। बेचारे बहुतसे भक्त भी मर गये।

जब भगदड़ कुछ शान्त हुई, स्थानोंका संघर्ष कम होने लगा, तब एक नवीन सत्य प्रकट हुआ। उच्च स्थानोंके आवास प्राप्त करनेके संघर्षमें भगवान्-समुदाय भी किसीसे पीछे नहीं रहा था। वे अपनेको पहले ही कल्कि तो घोषित कर ही चुके थे, अतः नर-संहार तो उनके लिए स्वाभाविक था। अपने चमत्कार, अपनी प्रेतसिद्धि और आश्रमोंमें सबल शस्त्र, सबल शिष्य-समुदाय, इन सबने उनकी सहायता की। फलतः उच्च स्थानोंके अधिकांश प्रशस्त भवन आश्रम बन गये। ऐसे आश्रमोंपर उत्पीड़ित विस्थापित यदि भ्रमवश आक्रमण कर दें तो उन अज्ञानी, पापी लोगोंका संहार तो आवश्यक कर्तव्य ही था।

ऐसे सब भगवान्, उनके सब चमत्कार और उनके द्वारा आराधित प्रेत भी असहाय हो गये उन क्षुद्र, अदृश्यप्राय कीटाणुओंके सम्मुख जिनकी संख्या अनुमानसे परे थी और जो कूड़ेको समाप्त करके अवशिष्ट भवनोंको भी कूड़ा कर देनेपर उतारू थे। ये अधम प्राणी किसी भगवान्को जानते-मानते ही नहीं थे। इनके लिए सड़ता रासायनिक पदार्थोंका कूड़ा और

भगवानोंके भव्य आश्रम या समाधियाँ सब सामान्यरूपसे उदरस्थ कर जानेकी वस्तुएँ थीं। वे सबको खाकर शुद्ध मृत्तिका बना देनेके अपने महान् संकल्पको सार्थक करनेमें लगे थे।

समाधियाँ और आश्रम इन कीटाणुओंके द्वारा ध्वस्त होती चली गयीं। समाजमें प्रशासन तो रहा नहीं था कि किसी प्रकारकी व्यवस्था बनती या किसीको संरक्षण प्राप्त होता। संहारका जो क्रम सृष्टिमें प्रारम्भ हो गया था, उसे अवरुद्ध करनेकी शक्ति प्रेतोंमें नहीं थी। होती भी तो वे उसे प्रयुक्त करनेका साहस नहीं करते; क्योंकि उनके महानायक भगवान् भैरव ही संहारका संचालन कर रहे थे।

आलसी, इन्द्रिय लोलुप, निरुद्यमी वर्ग पहले समाप्त हो गया। इसमें प्राय: सब साधु कहलानेवाले पराश्रयी और उनके वाक्चतुर अथवा चमत्कारी आश्रयदाता भी आ गये। जो अवशिष्ट रहे, वे शरीरसे बहुत सुदृढ़, स्वभावसे क्रूर, साहसी थे। उन्हें व्यवस्थित श्रम करना तो आता नहीं था, अत: वे दस्यु बन गये। जहाँ जो उपलब्ध हो लूट लो और बाधक बननेवालोंको मार दो, यह उनकी वृत्ति बन गयी। उनके भी छोटे-बड़े दल बने और वे घूमते रहने लगे। भगवान् कल्किको प्रकट होनेपर ऐसे करोड़ों दस्युका संहार करना पड़ा। आश्चर्य यह कि ये सब अपनेको 'राजा' कहते थे।■ दूसरोंको बलपूर्वक दास बनाये रखते थे।

■ **नृपलिगंच्छदो दस्यून कोटिशो निहनिष्यति।**
—भागवत १२।२।२०

सुरोंकी शंका–

अबतकका वर्णन दो-चार-दस वर्षोंका वर्णन नहीं है। कलियुगकी अन्तिम बीस-पच्चीस शताब्दियोंका वर्णन है। क्रमश: वह स्थिति बनती गयी थी। अन्तिम तीन शती पूर्व वर्षा प्रारम्भ हुई थी और एक शतीमें कीटाणुओंने पृथ्वीको कृत्रिम रासायनिक धातुओंसे स्वच्छ कर दिया था। स्वभावत: ही अपना आहार समाप्त करके उनकी जाति नष्ट हो गयी; क्योंकि वे न वनस्पति जीवी थे, न प्राणिजीवी ही।

वर्षाने पृथ्वीको हरिताम्बर दे दिया था। घास उगी, कण्टकवृक्ष बढ़े और प्राणवायुकी प्रचुरता हुई तो बड़े वृक्ष भी जहाँ-तहाँ उगने-बढ़ने लगे। पक्षी आये, तितलियाँ आयीं, वनपशु भी दीखने लगे। इनके बीज प्रकृतिने कहाँ-कैसे बचा रखे थे, यह चर्चा आगे करेंगे। पक्षियोंने बीज बिखेरना प्रारम्भ किया। अनेक बड़े वृक्ष उनकी बीटके माध्यमसे ही उगते-फैलते हैं। तितलियोंने, भ्रमरोंने पराग-वितरण करके पुष्प उत्पन्न किये।

अब मनुष्य उड़ तो सकता नहीं था कि पक्षियोंको पकड़कर उनका वंश-नाश कर देता। इस सबका सुयोग पाकर मनुष्यकी बकरियाँ भी बहुत बढ़ीं। अत: मनुष्य धीरे-धीरे चूहे पालना छोड़ने लगा। अब उसे मूषक-मांसकी आवश्यकता नहीं थी।

पृथ्वीपर मनुष्योंके असंख्य राज्य बन गये। राज्यका अर्थ कहीं ही दो या तीन गाँव था। एक गाँव अर्थात् मिट्टी या पत्थरके परकोटेसे घिरा कुछ झोपड़ोंका समूह एक राज्य कहलाता था। मिट्टी या पत्थरकी दीवारोंपर पत्थर या फूस-पत्तोंका छप्पर 'मकान' कहलाता था। उनके मध्यका कुछ अधिक बड़ा मकान राजा का होता। कई बार राजा के एकाधिक मकान भी होते थे।

गाँव में—राज्यमें कह लीजिये, राजाकी रानियाँ, उनकी संतानें और बलपूर्वक पकड़े गये दास रहते थे। ये दास श्रमिक और सैनिक दोनों थे और राजा उनका शासक भी था, सेनापति भी।

अव्यवस्था उत्पन्न होनेपर, परम्परागत भवनोंके ध्वस्त होनेपर और अराजकता आनेपर अधिकांश स्त्रियाँ अबला ही सिद्ध हुईं। उस समय केवल शारीरिक बल सफल हो सकता था और इसमें नारियाँ दुर्बल थीं। वृद्धाएँ मर गयीं या मारी गयीं। बालिकाएँ भी बहुत कम बच सकीं। प्राणरक्षाके संघर्षसे जैसे ही पुरुषको कुछ अवकाश मिला, उसकी वासना भड़की। उसने युवा स्त्रियोंपर अधिकार करना आरम्भ कर दिया।

विवाह नामक व्यवस्था तो शतियों पूर्व समाप्त हो गयी थी। यूथ बनाकर रहनेवाले पशुओंके समान शक्तिशाली लोग स्त्रियोंको अपनी सम्पत्ति मानने लगे। अवश्य ही कुछ चतुर स्त्रियोंने अपने सम्मोहनमें ऐसोंको भी बाँधा और वे उनकी रानियाँ बन गयीं।

बलात् बनाये गये दासोंका बहुत महत्व था। उनकी संख्या ही स्वामीके वैभवका मापदण्ड, मुख्य शक्ति थी। अतः उनको भी पत्नियाँ देना आवश्यक था, जिससे दासोंकी वृद्धि होती रहे। उनका अभाव न हो। उनका एवं उनकी संतानोंका उपयोग तो पशुओंके समान होने ही लगा था।

कुछ शक्तिशाली स्त्रियोंने भी अपने राज्य स्थापित किये; किंतु बहुत कम इनमेंसे स्थायी बन सके। ऐन्द्रियक लोलुपता तो सभीमें थी। अतः राज्य स्थापिकाएँ जब गर्भवती होती थीं तो उनकी दुर्बलताका पुरुष लाभ उठाकर उन्हें मार देते थे अथवा अपनी पत्नी बनी रहनेको विवश कर देते थे।

ऐसे भी राज्य स्त्रियोंने स्थापित किये, जिनमें पुरुष-प्रवेश ही वर्जित कर दिया; किंतु उनका जब संयम शिथिल पड़ा, राज्य नष्ट हो गया। संयम बना रहनेपर समयने उन्हें नष्ट कर दिया; क्योंकि उन सबको वृद्धा तो होना ही था।

स्त्री-राज्य बहुत ही थोड़े बचे। केवल वे बचे, जहाँ थोड़े पुरुष दास भी रखनेकी समझदारी अपनायी। इन दासोंके द्वारा संतानोत्पादन क्रम बना रहा। उत्पन्न बालक दासोंके और बालिकाएँ शासिकाओंकी बनायी जाती रहीं।

ये अत्यन्त छोटे राज्य या ग्राम परकोटोंसे घिरे बनाये जाते थे, आक्रमणसे रक्षाके लिए। प्रत्येक राजा अपने दासोंकी सेना सँभाले दूसरोंपर आक्रमणका अवसर ढूँढ़ता रहता था। आक्रमणमें कदाचित् ही कोई किसी राज्यके घर या स्थानको अधिकृत करता था। आक्रमण प्रायः किया जाता था दूसरे राज्यके पशुओं अर्थात् बकरियों, दासों और युवा स्त्रियोंको पानेके लिए।

इस प्रकार प्रत्येक राज्य दस्यु था। प्रत्येक राजा आततायी था। प्रत्येक अपने राज्यको अधिक सुरक्षित करने का प्रयत्न करता था। जल उपलब्ध होनेपर खाइयाँ बनायी जाने लगीं। परकोटोंको ऊँचा बनाया गया। दुर्गम स्थान राज्यस्थापनके लिए प्रिय हो गये, यदि समीपमें जल और बकरियोंके चरनेकी सुविधा हो। परकोटोंके बाहर-भीतर कण्टक-तरु-लताओंको लगाकर भीतर-प्रवेश कठिन बनाया जाने लगा।

राज्योंमें परस्पर संघर्ष तो था ही, आन्तरिक संघर्ष भी आरम्भसे ही उठ खड़ा हुआ। कभी कोई दास विद्रोही बनकर राजाको मारकर स्वयं राजा बन जाता था या कभी राजाके पुत्र अथवा भाई उसे मार देते थे। मनुष्य-समाज किसी भी दृष्टिसे वन्य-पशुओंसे विशिष्ट नहीं था। सर्वत्र वन्य व्यवस्था (जंगलका कानून) ही चलती थी। जो जबतक सबल है, सावधान है, तबतक शासक है और शासक है, तबतक उसकी इच्छा ही सर्वोपरि हैं। राज्यके सब साधन और भोग उसके।

इन राज्योंमें रहनेवालोंके लिए आये दिन विपत्तियाँ बढ़ती ही जाती थीं। अकाल, महामारी, रोग और भूकम्प एक ओरसे सर्वनाश करनेवाले थे। इनसे जो बचते भी थे, उनके भी सिरपर विपत्तियोंके बादल घिरे थे।

वनमें पहले पक्षी बढ़े। ऐसे भी बड़े पक्षी, जो बकरियोंके बच्चे झपट्टा मारकर उठा ले जाते थे और मनुष्योंपर भी आक्रमण करते थे।

पक्षियोंके आगमनके पश्चात् वनमें बड़े वृक्ष बढ़ने लगे। ह्रस्वकाय मनुष्यके लिए ये वृक्ष भी पहले विपत्ति ही बने। बड़े और भयानक पक्षी

इनपर बसेरा लेने लगे। इस प्रकार ये पक्षी जनपदोंके समीप पहुँच गये।

वन सघन हुआ तो उनमें कहींसे अनेक अपरिचित पशु आने लगे। उनमें कुछ तो बहुत भयानक हिंसक थे। वे बकरियों और मनुष्योंमें भेद किये बिना जो मिल जाय उसीको आखेट बना लेते थे। इन पशुओंके उपद्रवोंने अनेक राज्य उजाड़ डाले। मनुष्यको एकाकी वनमें बकरियाँ चराना और वनस्पति तथा काष्ठ एकत्र करना कठिन हो गया।

यह सब हुआ; किंतु मनुष्यको समझ नहीं आयी। वह अत्यन्त निष्ठुर और इन्द्रिय-लोलुप बना रहा। सुरोंको बहुत निराशा हुई पृथ्वीकी इस अवस्थासे।

'भगवान् कल्कि ही अवतीर्ण होकर कुछ करेंगे।' देवताओंका समूह निराश हो गया था। उनके द्वारा अप्रत्यक्ष रहकर किया गया महासंहार भी व्यर्थ हो गया था।

'विपत्तियाँ मनुष्यके लिए वरदान बनती हैं। मनुष्य उनके संघर्षमें शक्तिशाली और बुद्धिमान् बनता है। विपत्ति उसमें आस्था और आत्मविश्वास उत्पन्न करती है।' सुरोंका सदाका परिचित यह सत्य असफल सिद्ध हुआ था। विपत्तियोंके अनवरत आक्रमणोंने शारीरिक शक्ति और सतर्कता तो दी; किंतु उनमें न आत्मविश्वास आया और न आस्था जागी। वे अधिक अत्याचारी और भोगलोलुप होते चले गये।

'भगवान् कल्कि सर्वसमर्थ सर्वेश हैं।' यही आस्था एक अलक्ष्य अवलम्बन थी।

'कल्कि भी इन कायर, पापी प्राणियोंका कितना वध करेंगे?' सुरगुरुतक सशङ्क हो गये थे—'इन सबको नष्ट तो सुर भी सरलतापूर्वक कर सकते हैं; किंतु स्रष्टाकी सृष्टिके सर्वोत्तम प्राणी मनुष्यको ही मिटा दिया जाय तो सुरलोक सुरक्षित रहेगा? धरापर सतयुग आवेगा कहाँ, किसके लिए।'

'पृथ्वीपर जो सुरक्षित स्थान छोड़े गये हैं, उनके निवासियोंमें संतान-परम्परा बढ़ानेका कोई उत्साह नहीं है।' सुरेन्द्रको कामने समाचार

दिया—'मैं वहाँ कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं कर पाता और सामान्य धरापर जो मनुष्य हैं, उनके मनोंपर मेरा सम्पूर्ण शासन जो कर रहा है, वह सुरोंके किसी कामका नहीं।'

सुरक्षित स्थानोंकी चर्चा आगे करेंगे, किंतु सुरेन्द्रने भी स्वीकार किया कि सत्त्वगुणके उन घनीभाव स्थलोंमें मारको मनमानी करनेका दण्ड ही मिलेगा। सृष्टिकर्ता इसे क्षमा नहीं करेंगे। सामान्य धराके मनुष्योंमें आस्थाके उदयका कोई लक्षण ही नहीं था।

'हविर्भाग-वञ्चित स्वर्ग कबतक सुरक्षित रहेगा?' सभी सुर सशङ्क हो गये थे। दीर्घकालसे वे उपोषित प्राय थे। धराके सुरक्षित स्थलोंमात्रसे जो आहुतियाँ मिलती थीं, वे तो अत्यल्प थीं। पितरोंकी अवस्था भी ऐसी ही थी। उन्हें ही कौन पिण्ड देनेवाला था। कव्य (पितृभाग) उनके लिए भी स्वप्न बन गया था। इस निराशा, आशङ्कामें सुरोंके लिए भी एक ही अवलम्ब था—कल्किके आविर्भावकी आशा।

असुरोंका आह्लाद-

असुरोंको यदि धराकी चिन्ता सुरोंसे अधिक नहीं रहती तो कम भी नहीं रहती। सुर ही कहाँ स्वार्थहीन किसीकी सुधि लेते हैं। उन्हें भी मनुष्यकी अर्चा और आहुति चाहिये। असुर भी अपना स्वार्थ देखते हैं तो अनुचित क्या है। असुर अधः लोकोंमें क्यों पड़े रहें ? वे क्या महर्षि कश्यपकी ज्येष्ठ संतति नहीं हैं ? अमरावतीपर अधिकार असुरोंकी सनातन स्पृहा है और पर्याप्त पुण्यार्जनके बिना यह होता नहीं; अतः पुण्य अपेक्षित हैं। केवल धरा है, जो कर्मलोक है। वहींके कर्म पाप या पुण्य बनते हैं। अतः धराकी चिन्ता तो असुरोंको भी रखनी पड़ती है।

'हम सबने आरम्भसे ही भूलकी है।' असुरोंकी सभा एकत्र हुई तलातलमें तो उनका एक नायक बोला—'हमें धरापर अपना अधिकार बनाये रखना चाहिये। इससे अमरावतीपर हमारा अधिकार बना रहेगा।'

'भूलते हो भाई!' दानवेन्द्र मयने बाधा दी—'धरापर अधिकार कभी सुर भी करनेमें समर्थ नहीं हुए। उन्हें भी वहाँकी अर्चासे ही संतोष करना पड़ता है। विष्णुके असह्यतेजा महाचक्रको भूलो मत। भूदेवी उनकी पत्नी हैं, अतः वे शेषशायी किसीको वहाँ अधिकार नहीं करने दे सकते।'

'हम भूदेवीको अम्बा दितिके समान ही आदरणीया मानेंगे।' दैत्यराज बलि तो ऐसी सभाओंमें आया नहीं करते; किंतु एक दैत्य आ गया था सुतलसे। उसने कहा—'अब हम हरिकी शत्रुता छोड़ दे सकते हैं। वे किसीके पक्षपाती नहीं हैं और हमारे दैत्यराजपर तो अनुग्रह है उनका। धरापर मनुष्य, पशु-सब रहते हैं। सुर भी पलते हैं उनके अङ्कमें। हम भी उनका सम्मान करके वहाँ स्वतन्त्र रह सकते हैं।'

'अनेक बार हम रहते हैं।' दानवेन्द्र मयने कहा—'मुझे स्वयं धराका निवास प्रिय है। मेरे आराध्य भगवान् कपर्दीका सहज सांनिध्य वहाँ प्राप्त होता है।'

'इन दिनों धरा अरक्षित है।' असुरोंके उल्लासका यही प्रधान कारण था—'मनुष्य सुरोंका स्वप्नमें भी स्मरण नहीं करते। अतः सुर उनकी सहायताको आवें और उनसे संघर्ष हो, यह आशङ्का भी नहीं है। हम वहाँ सहज ही सुस्थापित हो सकते हैं।'

'मनुष्य आततायी हो रहा है। उसे शक्तिशालीका सम्मान करना और उसका दास बनकर रहना आ गया है।' दानवोंमेंसे एकने कहा—'मनुष्योंके नायक हमको अपना सम्राट् तत्काल स्वीकार कर लेंगे। हम उन्हें स्वतन्त्र कर दे सकते हैं; क्योंकि हमें उनकी सेवाकी अपेक्षा नहीं है। पृथ्वीपर हम अपने अनुकूल व्यवस्था स्वयं कर लेंगे।'

'मयके लिए प्रकृतिपर नियन्त्रण कभी समस्या नहीं रही।' दानवेन्द्रने कहा—'किंतु पृथ्वी इतनी सुगमतासे प्राप्त होती दीखती नहीं। मनुष्य तब सबसे अधिक शक्तिशाली होता है, जब वह सब ओरसे—अपने शरीरकी सुरक्षासे भी निरपेक्ष होकर अपनेको सर्वेशपर छोड़ देता है। यम भी तब उसकी ओर आँख उठानेका साहस नहीं करता। पृथ्वीके सुरक्षित क्षेत्रोंके मनुष्योंको हमें भूलना नहीं है।'

'उन सुरक्षित क्षेत्रोंको हम भी सुरक्षित छोड़ देंगे। हम भी उनकी ओर नहीं देखेंगे। वे बहुत अधिक नहीं है।' आगत दैत्यनेकहा—'वहाँके लोग अपने क्षेत्रोंके बाहर निकलनेकी बात भी नहीं सोचते। धराके सामान्य भागके मनुष्य तो कीटप्राय हैं। वे कोई प्रतिरोध करनेका साहस नहीं करेंगे।'

'मैं उनके सम्बन्धमें नहीं सोचता।' मय बोले—'सुरक्षित क्षेत्रोंके महातापस कब निकल पड़ेंगे, कोई आश्वासन नहीं है। जबतक वे निकलकर सक्रिय न हो जायँ, हमको सावधानीसे प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। धरापर हम अहर्निश आशङ्काका जीवन बिताने तो जा नहीं सकते। हममें अनेकोंमें कितना धैर्य है, सब जानते हैं। कोई कभी प्रमाद कर बैठे-एक ही तापसका क्रोध असुरकुलकी स्थिति शङ्कास्पद बन देगा।'

'आप कहना क्या चाहते हैं?' उकताकर दैत्यने पूछा।

'हमें अभी प्रतीक्षा करनी चाहिये।' मयने शान्त स्वरमें जैसे निर्णय सुना दिया—'जब सुरक्षित क्षेत्रोंकी सीमाएँ भंग हो जायँ, वहाँके लोग सामान्य संचरण करने लगें, तब उनकी गतिविधियोंसे उनकी इच्छा-आङ्काक्षाका अनुमान करके हम उनसे दूर अपने आवास पृथ्वीपर बना सकेंगे।'

'यह सच है कि तब सुरोंसे संघर्षकी भी शङ्का रहेगी, किंतु हम सबको संघर्ष प्रिय है।' एक प्रचण्डवपु नैकषेय (राक्षस) बोला—'सुरक्षित क्षेत्रोंके वे अद्‌भुत लोग हस्तक्षेप न भी करें तो भ इस समयके कीटप्राय मनुष्योंको मारनेमें कोई शौर्य नहीं है।'

'वे सब हमारे अन-कहे किंकर हैं।' दैत्य हँसा अट्टहास करके—'वे तो अपने कृत्योंसे हमारे अथक संवर्धनमें लगे हैं। हम उन्हें आशीर्वाद दे सकते हैं।'

मयको उस समयके धराके मनुष्योंकी चर्चा ही अप्रिय थी। उन्हें ठीक ही लगता था कि असुर दूरसे ही मनुष्योंकी चर्चा करके प्रसन्न हो सकते हैं। असुरोंमें एक भी इतना निकृष्ट नहीं कि उन मनुष्योंके अधम कृत्योंको समीपसे देखकर समर्थन करे; किंतु वे अत्यल्पकाम, अल्पप्राण, अल्पायुप्राणी–कौन कीटोंके कृत्योंकी कभी विवेचना करता है।

मय उस सभासे उठ गये; किंतु शेष सब बैठे रहे। शत्रुके संकट, पराभव एवं पतनकी चर्चा प्रायः प्रिय लगती है। मनुष्यके पतनमें असुरोंको अपने शत्रु सुरोंका पराभव-पतन प्रतीत होता था। मनुष्य सदा संकटमें सुरोंको पुकारता है। अतः असुर उल्लासमें थे। वे मनुष्योंके पतन तथा सुरोंकी असहाय अवस्थाकी चर्चामें लग गये।

हमारे-आपके अन्तःकरणमें भी सदा सुर और असुर-शक्तियाँ निवास करती हैं; क्योंकि जो समष्टिमें है, वह व्यष्टिमें भी सूक्ष्मरूपमें बना रहता है। इसमें जानने योग्य सत्य यह है कि सुर श्रद्धा-सेवित होनेपर सानुकूल होते और सहायता करते हैं। उन्हें संयम, श्रम, सत्कर्मसे संतुष्ट करते रहना पड़ता है; किंतु असुर अनपेक्षित, बिना माँगे अपने-आप आशीर्वाद देने, अधःपतनकी ओर धक्का देने उपस्थित होते रहते हैं। उनकी शक्तियोंको

सतत सावधान रहकर शमित-दमित करते रहना पड़ता है। अन्यथा वे तो अवसरकी ताकमें ही रहते हैं।

उस दिन असुरोंके उल्लासका एक अनिवार्य परिणाम हुआ कि पृथ्वीके उन मनुष्योंको असुरोंका आशीर्वाद तथा अप्रत्यक्ष सहायता अपने-आप प्राप्त हो गयी, जिनको यदि सचमुच समीपसे असुर देखते तो उन्हें भी लज्जा आती मनुष्योंका साथ देने में।

मनुष्योंका बड़ा वर्ग तो कलियुगके प्रारम्भमें ही असुरोंका अनुयायी हो गया था। दम्भ, दर्प, अभिमान उसमें बराबर बढ़ते ही गये थे। श्रद्धा और सात्त्विकतासे वह सम्पूर्ण शून्य हो चुका था।

असुरोंमें अथक परिश्रमकी शक्ति और अटूट धैर्य होता है। मनुष्य इसे भी खो चुका था। उसमें तो अब केवल ऐन्द्रिक तृप्तिकी असीम लालसा शेष रही थी। श्रमको वह अब अपने लिए असम्मानका हेतु मानने लगा था। श्रम उसने दासोंका काम मान लिया था।

मनुष्योंमें जो असंख्य राजा बन गये थे, वे असुरोंका अप्रत्यक्ष आशीर्वाद पाकर उलटे आलसी, कायर, कापुरुष ही अधिक बने। अब उनमें अधिकांश संघर्षसे भी बचे रहना चाहते थे। युद्ध—संघर्ष केवल उन कुछ जातियों—प्रदेशोंके प्रमुखोंको प्रिय रहा, जो असुविधा और अभावग्रस्त क्षेत्रोंमें बसे थे। आक्रमण, लूटके अतिरिक्त उनके समीप उपाय नहीं था। अतः उनके यूथ बनते ही रहते थे।

जिन्हें सुविधापूर्ण स्थिति प्राप्त हो गयी थी, उनके लिए अकस्मात् आये ऐसे आक्रमणकारियोंके दल अत्यन्त कष्टकर आपत्ति थे। इस अवस्थामें भी वे जहाँतक सम्भव हो, दासोंकी ही बलि देते थे।

कला और मनोरञ्जनके नामपर पता नहीं, कितनी वीभत्स बातें इन राजाओंने प्रचलित कीं। कितना नृशंस संहार मनुष्योंका मनोरञ्जनके आयोजनोंमें होता है।

मनुष्य मनोरञ्जनके नामपर पैशाचिक कृत्योंका नया-नया ढंग निकालनेमें लग गया था। असुरोंको इससे उल्लसित होना ही था; क्योंकि

इन सबसे उनके शत्रु सुरोंकी शक्ति क्षीण होती थी। सत्त्वप्राण सुर धराकी सात्त्विकतासे ही पुष्ट होते हैं।

यद्यपि मयने असुरोंको धरापर आकर बसनेसे रोक दिया था; किंतु असुर अप्रत्यक्ष, अदृश्य रहते अब धरापर अधिक विचरण करने लगे थे। धरा उनको प्रसन्न करनेकी आमोदस्थली बन चुकी थी। वे यहाँसे घूमकर लौटते थे तो यहाँके राजाओंके विशेष-विशेष आयोजनोंका—उनमें हुए संहार और नृशंसताओंका वर्णन अत्यधिक रस लेकर उत्साहपूर्वक करते थे।

धरा जो सृष्टिके भालका सौभाग्यविन्दु है, धरा जो अपने अङ्कमें आये जीवको धन्य करती है, धरा जो सब लोकोंका प्रवेशद्वार है, वह धरा और उसका सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य असुरोंके उल्लासका साधन बनकर रह गया था।

ग्रह-मण्डल—

'अपने शत्रु बालग्रह बुधके गृहमें बृहस्पति इस समय आर्द्रामें संचरण कर रहे हैं। यह अत्यन्त अनिष्टकारी समय है। राहुका यहाँ योग होनेसे गुरु-चाण्डाल योग बना है और भारतका लग्न शनि-मंगलकी पाप-कर्तरीमें फँस गया है।' भगवान् व्यास अपने आश्रममें मरु तथा प्रतीपसे कह रहे थे—'पृथ्वीपर महासंहारका काल आ पहुँचा है।'

'कम ऐसा होता है कि सभी ग्रह नीचके अथवा शत्रु-गृही हो जायँ। जब ऐसा होता है, पृथ्वीपर प्रायः महासंहार होता है।' भगवान् व्यास रात्रिमें निर्मल नभकी ओर एकटक देख रहे थे—'इधर शताब्दियोंसे जैसे शुभ योगोंका बनना समाप्त ही हो गया है। भारतका भाग्यलेख इधर बहुत अशुभ रहा है। पाप-गृह तृतीय, षष्ठम और एकादशके स्वामी होकर शुभ-स्थानोंको आक्रान्त कर लेते थे और शुभ ग्रह केन्द्रेश होकर अशुभ स्थानोंमें स्थित हो जाया करते थे।'......

मरु और प्रतीप-दोनोंको ज्योतिषका सामान्य ज्ञान था। वेदाध्ययनके साथ वेदाङ्ग तो पढ़ना ही पड़ता है और ज्योतिष वेदका नेत्र है; किंतु इस ओर कोई विशेष रुचि दोनोंकी नहीं थी। कलापग्राममें भी दोनोंने कभी इस विषयके सम्बन्धमें जिज्ञासाकी होती तो उन्हें इसके परमसिद्ध ज्ञाताओंकी सहायता सुलभ हो जाती; किंतु वहाँ भी दोनोंकी इधर अभिरुचि नहीं हुई।

भगवान् व्यास सर्वज्ञ हैं। उन्हें भविष्य-ज्ञानके लिए आकाशमें दृष्टि गड़ानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। यह तो उनका सौम्य विनोद था कि नभ-निर्मल हो तो कभी-कभी तारकोंकी ओर देख लेते थे।

'सृष्टिकर्ताने अपनी सृष्टिके सूत्र छिपाये नहीं।' भगवान् व्यासने ही कहा—'सृष्टिमें अनेक रूपोंमें उसने सम्पूर्ण सृष्टिका प्रतिरूप रख दिया है। केवल उसे देखने-समझनेके नेत्र अपेक्षित हैं।'

'सम्पूर्ण सृष्टिका प्रतिरूप ?' प्रतीपने शङ्का प्रकट की ।

'तुम जानते हो कि किसी मनुष्यके कर, पद अथवा भालकी रेखाएँ देखकर या उसके शरीर-लक्षणोंसे उसका पूरा जीवन जानना सम्भव है । यही बात प्रत्येक पशु, प्राणी या पदार्थके सम्बन्धमें है, किंतु ऐसा लक्षणज्ञ होना बहुत कठिन है ।' भगवान् व्यास समझाने लगे ।

'सृष्टिका सम्पूर्ण इतिहास ग्रह-नक्षत्रोंकी गतिमें अङ्कित है; किंतु इतना समर्थ दैवज्ञ चाहिये, जो किसी एक ग्रहकी भी ठीक गणना करे तो दूसरोंकी स्थितिका ज्ञान स्वतः हो जाय । तब वह किसी एक क्षुप या पदार्थके अध्ययनसे सम्पूर्ण सृष्टिकी कथा जान सकेगा ।'

'भगवन् ! ग्रहोंकी संख्या बहुत छोटी है । राशियाँ कुल द्वादश हैं और नक्षत्र केवल सत्ताइस । अतः इनके चरण और अंश कितने भी किये जायँ, वे सीमित रहेंगे ।' मरुने इस बार जिज्ञासा की—'फलतः ग्रह-नक्षत्रोंकी स्थितियाँ अनन्त नहीं हो सकतीं । अपनी सब स्थितियोंका एक चक्र पूरा करके वे पुनः वही आवृत्ति करेंगे । यदि संसारके सब पदार्थ, उनकी आकृतियाँ और अवस्थाएँ ग्रह-गतिपर अवलम्बित हैं तो इन सबको भी आवृत्ति करनी चाहिये । इसका अर्थ हुआ कि आपके आश्रममें हम मरु और प्रतीप इसी आकृतिके इसी अवस्थामें पहले भी आये हैं और बार-बार आते रहेंगे ?'

'भद्र ! तुमने श्रुतिका अध्ययन किया है । **'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'** तुमसे अविदित नहीं है । युगोंकी आवृत्तियाँ होती हैं, जानते हो । जीव मुक्त होता है, आकृति मुक्त नहीं होती ।' भगवान् व्यासने स्पष्ट किया–'आकृतियाँ, शरीर और उनकी अवस्थाएँ प्रकृतिका अङ्ग हैं । प्रकृतिमें यदि सब सुनिश्चित न हो तो कोई भी सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ।'

अनिश्चित ही वह कहाँ है, जिसका पूर्वज्ञान ईश्वरको भी है । जो भी ईश्वरको स्वीकार करते हैं, वे ईश्वरको सर्वज्ञ तो मानते ही हैं । अतः उन्हें सृष्टिमें पूर्व-निश्चित सब मानना ही चाहिये । बात बहुत सीधी है; किंतु सरलतासे सिरमें नहीं उतरा करती ।

'तुम दोनोंको शीघ्र कार्यक्षेत्रमें जाना है।' भगवान् व्यासने अचानक कहा।

'आपका मार्ग-दर्शन हमें प्राप्त नहीं होगा ?' मरुका स्वर खिन्न हो गया।

'वह तो प्राप्त होता ही रहेगा।' भगवान् व्यासने सुप्रसन्न कहा—'मैं तुम्हारे साथ ही चलूँगा। प्रतीपको कुछ पहले जाना है; किंतु इन्हें भी कोई असुविधा नहीं होगी। महर्षि गालव इन्हें वहाँ मिल जायँगे। इस समय तुम दोनों ग्रहोंकी परस्पर चर्चा सुन लो। इससे भी तुम्हें कुछ दिशा-निर्देश प्राप्त होगा।'

भगवान् व्यासने दोनोंको दिव्य दृष्टि और श्रवण-शक्ति प्रदान की। दोनोंने देखा कि आकाशमें ग्रह-मण्डलके अधिदेवता जैसे प्रत्यक्ष हो गये हैं। राहु-केतु जैसे छाया-ग्रह भी स्पष्ट दीखने लगे।

'तुम हमारे मध्यमें क्यों आये ?' मुखमात्र, अत्यन्त काला, अङ्गारनेत्र, बड़ी लाल मूँछोंवाला राहु वृहस्पतिकी भर्त्सना कर रहा था—'तुमने पृथ्वीपर समुद्रको स्वच्छ बनानेकी, कूड़ेको साफ करनेवाले कीटाणु उत्पन्न करनेकी प्रेरणा दी मनुष्यकी बुद्धिमें। क्या कल्याण कर लिया तुमने इससे उन लोगोंका ?'

'मेरा काम सत्प्रेरणा देना है। मेरा स्वभाव तुम जानते हो। तुम्हारे आक्षेप व्यर्थ हैं। तुम्हारी भाँति मैं भी सृष्टिकर्ताके द्वारा संचालित हूँ।' स्वर्णगौर, पीतवसन, गजवाहन, कमललोचन सुरगुरुका स्वर उनके स्वभावके समान ही शान्त था—'तुमने और शनिने मिलकर अपने प्रभावसे मेरे वरदानोंको भी विपत्ति बना दिया, यह भी सृष्टिकर्ताकी इच्छा ही है। लेकिन मैं अपना कार्य तो अवरुद्ध नहीं करूँगा। मेरी उच्चस्थिति भी आने ही वाली है।'

'मैं आपके चरणोंमें प्रणिपात करके क्षमा चाहता हूँ।' रक्तवर्ण, प्रवालमुकुटी, भूमिपुत्र मङ्गलने मस्तक झुकाया—'मैं भी अपने स्वभावसे विवश हूँ। मेरी माता भूदेवीके ऊपर अनर्गल भार बहुत बढ़ गया है। उसे मिटना चाहिये।'

'वत्स ! मैं जानता हूं कि तुम्हें रण और रक्तपात प्रिय हैं। अन्ततः तुम सेनापति हो।' वृहस्पति गम्भीर बने रहे—'इस बार भगवान् कल्किकी सेवाका सबसे अधिक सुअवसर तुम्हें ही मिलना है; क्योंकि वे केवल सहार-लीला करने उत्पन्न हो रहे हैं। मैं तो ब्राह्मण हूँ, तुम्हें भी विजयी होनेका आशीर्वाद ही देता हूँ।'

'आप मुझे भी आशीर्वाद दें इस बार।' हरितवस्त्र, गोलमुख, हँसता हुआ चन्द्रपुत्र बुध बोला—'आप इस समय मेरे घरमें हैं, अतः इस समय तो आप मेरी शत्रुता भूल सकते हैं। मैं भी मङ्गलकी सहायता करूँगा। वैसे पृथ्वीपर आपके सत्प्रयत्नमें मैंने वायुवेग उत्पन्न करके भी सहायता की।'

'बच्चे, बालक है तू।' वृहस्पतिने कहा—'तूने वायु और बवण्डर अपने चापल्यवश उत्पन्न किये और उन्होंने भूमिपर भारी उत्पात किया। तुझे जितनी उछल-कूद करनी हो, अभी कर ले। अन्यथा भगवान् कल्किके संहारके समयकी समाप्तिके साथ तुझे मेरे नियन्त्रणमें ही रहना है। जानता तो है कि सतयुग समीप है।'

'आप इस अधमजनपर भी कृपा करेंगे ?' सिंहवाहन, काला, असिहस्त कुरूप, अत्युग्र शनि व्यंगसे अट्टहासपूर्वक हँसा।

'सूर्यनन्दन ! अपने मित्र राहुकी सहायता लेकर तुम संतुष्ट हो सकते हो।' भगवान् वृहस्पतिपर शनिके व्यंगका कोई प्रभाव नहीं पड़ा—'लेकिन रोग, महामारी और विपत्तियोंके दिन पृथ्वीसे शीघ्र बिदा होनेवाले हैं। तुम अपनी दृष्टि वहाँसे उठानेको प्रस्तुत नहीं होगे तो तुम्हें कष्ट होगा। कल्किपर तुम्हारी दृष्टिका कोई प्रभाव नहीं पड़ना है और उनके संहारमें तो केवल केतु सहयोग दे सकता है। असुर होनेपर भी, राहुका शरीर होनेपर भी यह सिरहीन मोक्षदाता मुझे सदा प्रिय है। इस बार इसका प्रभाव मङ्गलके तेजका अभिवर्धन करेगा।'

'आप मेरे शिष्योंको भी आशीर्वाद देने लगे हैं !' कर्पूरगौर, कोमल किंचित् स्थूलकाय, मुक्तामाल, श्वेतवस्त्र, एकनेत्र शुक्राचार्यने हँसते हुए उपालम्भ दिया।

'आपने भी तो शनि और शशिको अपने पक्षमें कर लिया है। शशि-सुत बुध भी आपकी चरण-सेवा ही करता है।' वृहस्पतिने भी सहास्य ही उत्तर दिया—'किंतु मुझे बुरा नहीं लगता। अभी तो सूर्यका प्रचण्ड पौरुष प्रकट होनेवाला है धरापर। मङ्गल उनका मित्र रहेगा ही। इन दोनों शिष्योंका शासन समाप्त होते ही मेरा काल आ जायगा। आपकी कला-प्रियताको अभी त्रेता आनेतक प्रतीक्षा करनी होगी।'

'यह केवल भविष्यका इङ्गित है।' भगवान् व्यासने कहा। मरु और प्रतीतके सम्मुखसे वे अधिदेवता ऐसे अदृश्य हुए, जैसे अपने ग्रह-मण्डलोंसे एक हो गये हों; क्योंकि ब्रह्ममुहूर्त आरम्भ हो चुका था, तीनोंको ही सरस्वती-स्नान करके अपने आह्निक कृत्योंमें लगना था।

सुरक्षित स्थल-

आवश्यक है कि बहुत पीछे लौटा जाय। इन स्थलोंकी स्थिति आरम्भसे ही समझनी पड़ेगी। उस आरम्भसे जब पृथ्वीपर प्रथम परमाणु महायुद्ध हुआ था। उसके पश्चात् इन स्थलोंमें भी परिवर्तन हुए, होते गये।

प्रकृति अपनेको पूर्णतः नष्ट नहीं करती। सृष्टिका एक सामान्य ढंग है कि वह अपने सुरक्षित भाण्डार बनाये रखती है। बहुत विस्तीर्ण मरुस्थलोंमें भी हरित-स्थान (नखलिस्तान) सदा बीच-बीचमें बने रहे हैं। मरुस्थलीय जीवोंके जीवनको भी इस प्रकार सृष्टिकर्ताने सुरक्षाके साधन दिये हैं।

केवल प्राचीन भारतीय समुद्री-व्यापारके संचालक समुद्रकी पछाड़ पहचान सकते थे। समुद्रमें जब भयानक वात्याचक्र (साइक्लोन) उठता है और कई मीलका घेरा लेकर घूमता जलका मीलों ऊँचा स्तम्भ दानवकी भाँति दौड़ता है, कोई कल्पनातक नहीं कर सकता कि उसका सचल केन्द्र अत्यन्त शान्त होता है। वहाँ पहुँचा जलयान ही नहीं; नौकातक सुरक्षित रहती है।

ऐसे ही परमाणु युद्धके पश्चात् जब क्षुब्ध अणु-विखण्डनका वात्याचक्र उठा, पृथ्वीपर कुछ सुरक्षित क्षेत्र स्वतः बन गये। इनके चारों ओर कुछ मीलोंका घेरा बनाकर परमाणु-धर्मिताका ऐसा आवर्त बना कि उसका भीतरी भाग अप्रभावित ही रहा; किंतु वे क्षेत्र अप्रवेश्य बन गये। उनके भीतरके प्राणी भी बाहर आनेमें असमर्थ हो गये।

कलिके अन्तसे पूर्व तो कई बार महायुद्ध हुए। इनमेंसे प्रत्येकमें इन सुरक्षित स्थानोमें कुछके आवरण नष्ट हुए और कुछके अधिक सुदृढ़ होते गये। इस प्रकार सुरक्षित क्षेत्र बहुत बने, मिटे या बदले; किंतु बहुतसे आरम्भमें बने तो बने ही रहे। उनके आवरण तो अदृश्य थे, दृढ़ होते गये। उनमें भीतरी परिवर्तन तो हुए; किंतु वाह्य वातावरणसे वे सर्वथा अस्पृश्य रहे।

विज्ञानने केवल बिगाड़ा ही नहीं, बहुत कुछ बनाया और बचाया भी। बार-बार युद्ध हुए, बहुत बड़े विनाश हुए, किंतु रेडियम धर्मिता अत्यन्त कम बढ़ी। उसपर नियन्त्रणके सम्बन्धमें मनुष्य बहुत पूर्वसे सावधान था। उसे अत्यधिक कम करनेमें सफल हो गया था और उसका प्रतीकार भी प्राप्त कर चुका था।

इस सबका परिणाम हुआ कि बार-बारके महासंहारके पश्चात् भी मनुष्यकी जनसंख्या बढ़ती ही चली गयी। विज्ञानने भी उसके बढ़नेमें ही योगदान किया।

सुरक्षित स्थल पृथ्वीपर बहुत बने और बने रहे। वे सबसे अधिक भारतमें बने, किंतु दूसरे स्थानोंमें भी बने। सबका क्षेत्रफल और आन्तरिक स्थिति भी समान नहीं बनी। क्षेत्रफलमें भी पर्याप्त अन्तर बना रहा और आन्तरिक अन्तर तो बहुत ही अधिक था। कुछमें भीतर निर्जन मरुस्थल भी था, कुछमें केवल वनस्पति ही थे और कुछमें वनस्पति और पशु, किंतु अधिकांश भारतीय ऐसे स्थलोंके भीतर मनुष्य भी थे।

ये स्थल अपारदर्शी तो नहीं थे, किंतु वाह्य जगत्के वैज्ञानिकोंने इनके चारों ओर व्याप्त सघन परमाणु-धर्मिताके कारण मान लिया कि ये सब निर्जन, शुष्क स्थान हैं। इनमें जो कुछ दूरसे दीखता है, वह परमाणु धर्मिताके द्वारा उत्पन्न किया दृष्टि-भ्रम है।

बाहरसे वहाँ प्रवेशका प्रयत्न विनाशका सीधा मार्ग था। अतः उन स्थानोंके आस-पास जाना भी वर्जित मान लिया गया। धीरे-धीरे जब वाह्य जगत्में मनुष्य बौना हो गया, वनस्पति क्षीण हो गये, तब तो इन सुरक्षित स्थलोंको प्रेतावास माना जाने लगा, क्योंकि वहाँ बहुत बड़ी सचल आकृतियाँ दीखती थीं। अतः उनके ऊपरसे भी बहुत ऊँचाईसे ही उड़ान ली जाती थी।

प्रकृतिमें न कुछ विनष्ट होता, न बढ़ता या घटता; केवल पदार्थोंका रूपान्तरण होता रहता है। प्रकृतिके तीनों गुणोंकी भी क्षय-वृद्धि नहीं होती और न धर्म या अधर्म घटता-बढ़ता। इनका भी स्थानान्तरण अथवा संकोच-प्रसार ही होता है।

सतयुगमें वृक्ष, पर्वत बहुत अधिक रहते हैं। स्थावरतत्त्व तमोगुण बहुत ले लेता है। पशु-पक्षी बढ़ते हैं। ये रजोगुण अधिक लेते हैं। दैत्य-दानवादि पृथ्वीपर आ जाते हैं। उनमें अधर्म, रजोगुण सघन हो जाता है। फलतः मनुष्योंमें शरीर-धारण, निद्रामात्रका तमोगुण और शरीरकी क्रियामात्रका सत्त्वोन्मुख रजोगुण रह जाता है। सत्त्वगुणका उनमें प्राबल्य उन्हें तप, ध्यानादिमें लगाता है।

त्रेतासे द्वापर ही नहीं, कलिके प्रथम चरणतक पशु-पक्षी और वृक्ष घटते जाते हैं। द्वापरान्ततक बचे दैत्य-दानव भी पृथ्वीका परित्याग कर देते हैं। मनुष्योंमें क्रमशः रजोगुण, तमोगुण बढ़ता जाता है। उनमें धर्म और अधर्म–दोनों फैल जाते हैं। कोई भी एक गम्भीर-सुदृढ़ नहीं रह पाता।

प्रथम महायुद्ध—पारमाण्विक प्रथम महायुद्धके पश्चात् ही परिस्थिति सर्वथा परिवर्तित हो जाती है। प्रकृतिको अपने बीज-सुरक्षित करनेकी सूझती है। अतः ये सुरक्षित स्थल बन जाते हैं संसारमें।

इनके बन जानेपर पृथ्वीपर दो प्रकारके परिवर्तन चलते हैं। जैसे वे एक-दूसरेकी प्रतिक्रिया हों। बाहर जितनी विलासिता, क्रूरता, अधर्म बढ़ता जाता है, सुरक्षित स्थलोंमें उतना ही संयम, सात्त्विकता, सादगी बढ़ती जाती–सघन होती जाती है। बाहर जैसे-जैसे प्राणी अल्पायु, क्षुद्राकार होता गया, इन सुरक्षित स्थलोंमें आयु और आकार भी बढ़ता गया।

सुरक्षित स्थलोंसे पक्षियोंका भी बाहर आना अशक्य था। उनमें जो आवरणके समीप जाता मर जाता। पशु-पक्षियोंमें प्राकृतिक प्रभाव-ग्रहणकी शक्ति तीव्र होती है। अतः उन्होंने आवरणसे दूर रहना सीख लिया। उस घेरेमें अपना निर्वाह करना भी आ गया उन्हें। सत्त्वगुण सघन हुआ तो उनका स्वाभाविक संघर्ष भी शान्त हो गया। उनमें जो क्रूर मांसाशी भी थे, उनका भी आहार अल्प हो गया।

जहाँ भी इन सुरक्षित क्षेत्रोंमें मनुष्य बचे थे, उनका शेष संसारसे सम्बन्ध टूट चुका ही था। प्रारम्भमें उन्हें बहुत कष्टका अनुभव हुआ; किंतु वे धीरे-धीरे उस जीवनके अभ्यस्त हो गये।

वहाँ वृक्ष थे, पशु-पक्षी थे और वर्षा भी होती थी। अतः वहाँ कृषि बनी रही। गो-दुग्ध सुलभ रहा। फल मिलते रहे। रुई और अन्न भी था; किंतु मनुष्य त्यागी, तपस्वी, तितिक्षु बनता गया। उसकी कामनाएँ घटती गयीं। वह केवल कर्तव्य मानकर ही संतानोत्पादन करता था।

गृह सचमुच गृहिणियोंके हो गये। पशु-पालन और कृषि उनका कार्य बन गया। शिशु-शिक्षण तो उनका काम था ही। पुरुष तो ध्यानमें, आराधनामें लगा रहने लगा।

श्रृङ्गार कबका बिदा हो चुका था। वस्त्र केवल शीतरक्षणके लिए पुरुषको आवश्यक थे। आहार अल्प हो गया। भारतमें तो अनेक सुरक्षित स्थल ऋषि-आश्रम बन गये।

जैसे सतयुगमें दानव-राक्षसोंके आवास घोर अधर्म, उग्रहिंसाके स्थान बने रहते हैं, वैसे ही कलियुगमें ये सुरक्षित स्थान सतयुगके छोटे, किंतु सुदृढ़ शिविर बन गये थे। इनमें अखण्ड शान्ति और संतोषका साम्राज्य था। यहाँके हिंसक पशु भी मनुष्यके मित्र बन चुके थे।

वाह्य संसारमें वर्षा प्रारम्भ हुई तो उसका प्रभाव पड़ा हो अथवा कोई अज्ञात अन्य कारण हो, इन सुरक्षित स्थलोंका आवरण भङ्ग हुआ। सम्भव है, उसी सघन परमाणु-धर्मिताके फटकर फैल जानेसे आकर्षण-शक्ति-अवरोधक यन्त्र निष्क्रिय हो गये हों।

पक्षियोंने इस आवरणके हटनेको पहले भाँप लिया। वे उड़कर वाहर भी जाने लगे। वाहर वनको उगानेमें उनकी इसी यात्राका अधिक योग था। वे बीटके माध्यमसे तो वृक्ष बढ़ाते ही थे, फल भी ले आते, उनके बीज भी चाहे जहाँ डाल जाते थे।

वन शीघ्रतापूर्वक बढ़ा-फैला। वन सघन हुआ तो सुरक्षित स्थलोंके पशु भी बाहर आने लगे। बाहर आकर उनमें वह सात्त्विकता तो रही नहीं, अतः वे वनमें आवास बनाने लगे। उनकी संख्या-वृद्धि होने लगी। उनमें हिंसक पशु आखेट करने लगे।

सुरक्षित स्थलोंके मनुष्य यदा-कदा कुछ दूरतक बाहर आये भी तो निराश होकर लौट गये। बाहरके बौने मनुष्योंको या तो उन्होंने देखा नहीं, या उनकी उपस्थितिने बौनोंको इतना आतङ्कित और उत्तेजित किया कि उनकी भाग-दौड़, चिल्लाहटसे अशान्तिका अनुभव करके शीघ्र अपने स्थान पहुँचना उन्होंने अच्छा माना।

बाहरके मनुष्योंके लिए तो सुरक्षित स्थलोंके आये बहुत-से पशु-पक्षी ही विपत्ति बने थे। परम्परासे उन्होंने सरक्षित स्थलों और उनके प्रेतोंके सम्बन्धमें असंख्य कल्पित कथाएँ सुनी थीं। अतः उनमें कोई भी इन स्थलोंकी ओर जानेका साहस ही नहीं करता था।

सुरक्षित स्थलोंकी शान्ति और वहाँकी सात्त्विकता आवरणके नष्ट हो जानेपर भी अक्षुण्ण बनी हुई थी।

कलिक-कथा

सम्भलग्राम–

आज मुरादाबाद जिलेमें जहाँ सम्भलपुर है, स्थान नहीं; किंतु तब नगर-ग्रामकी ये सीमाएँ तो शेष रही नहीं थीं। सम्भलग्राम उस समय सुरक्षित क्षेत्रोंमें था। ऐसे अनेक क्षेत्र भारतमें बने थे। आश्चर्य यह कि वे प्रायः मुख्य तीर्थोंमें बने थे। अयोध्या, मथुरा, वाराणसी आदि सब मोक्षदायिनी पुरियाँ सुरक्षित स्थल थे।

इन सुरक्षित स्थलोंमें भी परस्पर कोई सम्पर्क नहीं था। प्रत्येक सुरक्षित स्थल अपने-आपमें पूरा संसार था। वहाँके निवासियोंको अपना पूरा जीवन उसी क्षेत्रमें रहते व्यतीत करना था और जीवन-निर्वाहकी सब आवश्यक वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न करनी थीं।

इस प्रकार रहते अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी थीं। लोग विस्मृत हो चुके थे कि इस सीमासे बाहर जाना भी सम्भव है। इस सीमावरोधने उनके जीवनमें अनेक बातें स्वाभाविक बना दी थीं। सम्भल-ग्रामके सब लोग लवणका स्वाद ही भूल चुके थे। केवल चनेके हरे पत्तेमें नमकका स्वाद उन्हें प्राप्त होता था।

अन्न उत्पन्न होता था। गन्ना भी उगता था और उससे गृहणियाँ गुड़ भी बना लेती थीं। रूई भी उत्पन्न होती थी। उससे सूत भी कतता था। अतः वस्त्र भी बनता था।

अपने-आप कुछ व्यावसायिक जातियाँ बन गयी थीं। कुछ गृहोंमें केवल अध्यापन होता था। कुछ कृषक थे और कुछ गोपालक। बुनकर, बढ़ई भी थे, किंतु शस्त्रजीवीवर्ग अर्थात् क्षत्रिय सर्वथा नहीं थे। शस्त्रोंकी कोई आवश्यकता नहीं थी।

लोग इतनी छोटी सीमामें दीर्घकालसे रहनेके कारण एक परिवारके सदस्योंके समान हो गये थे। उनमें विवाद भी होते थे तो बड़े-बूढ़े निपटारा कर देते थे।

अवश्य कुछ थोड़े लोग वैश्य बन गये थे। वे वस्तु-विनिमय करते थे। उत्पादनका संग्रह कर लेते थे और आवश्यक होनेपर दूसरी वस्तुओंके विनिमयमें उन्हें देते थे। ऐसे लोगोंका समाजमें सम्मान कब हो गया था; क्योंकि अपरिग्रही ही सम्माननीय था।

समाजमें ब्राह्मणोंका बाहुल्य था। सब कार्य प्राय: स्त्रियाँ करती थीं। केवल वैश्य पुरुष ही वस्तु-संग्रह एवं कृषिके कठोर कार्य करते थे। शेष पुरुष तो तप, ध्यानमें लगे रहते थे अथवा अर्चन करते थे। वे किसीके अनुरोधपर ही उपदेश करते थे।

ज्ञान तो एकाग्र मनका प्रसाद है। उस समय उन सुरक्षित स्थलोंके व्यक्तियोंके मनमें अधर्मजन्य मल था ही नहीं। चिन्तनके इतने कम विषय थे कि विक्षेपका बाहुल्य सम्भव नहीं था। जो जब चाहता, एकाग्र हो जाता था। अत: मनमें निहित शक्तियाँ सबको सुलभ थीं। जो ज्ञातव्य लगता, नेत्र बंद करके एकाग्र होते ही स्पष्ट हो जाता।

सबमें सहज शान्ति थी, सौहार्द था। पशु-पक्षी, कीटतक स्वजन ही समझे थे। फलत: उनके द्वारा भी कोई उपद्रव नहीं होता था।

संयमका प्रसाद स्वस्थ शरीर प्राप्त था। प्रकृति भी ऐसे स्थलोंमें उत्पात नहीं करती थी। फल, पुष्प, तृण पर्याप्य होते थे और उपवन मधु-छत्रकोंसे भरे रहते थे लोगोंकी आवश्यकताएँ इतनी अल्प थीं कि पदार्थोंका बाहुल्य बना रहता था। प्रत्येक देनेकी, सेवा करनेकी समुत्सुक, किंतु पदार्थ या सेवा-स्वीकार करना बड़े संकोचकी बात थी।

असंयम और असंतोषसे अपरिचय था। व्यवहारमें लगी स्त्रियोंमें भी परस्पर सख्य था। विवाद होता था; किंतु यह कि सेवा करना अथवा उपहार देना, किसीका स्वत्व है और उसे अस्वीकार किया जा रहा है। अथवा कोई अनजानमें किसीको उपकृत कर जाता है। किसीके क्षेत्रमें श्रम कर लेता है या किसी के शिशुको, बालकको खिला देता है, कुछ दे देता है और विनिमयमें कुछ लेना अस्वीकार कर देता है।

पशु थोड़े ही पालने पड़ते थे। वे स्वयं चर लेते थे और जिसके स्थानके समीप बैठते थे, वह उनका दुग्ध-दोहन कर लेता था। अनेक बार गृहिणियाँ अधिक पशुओंको दुहनेमें असमर्थ होती थीं तो ऐसी चेष्टा वे करते जैसे उपालम्भ देते हों। गायोंको कष्ट न हो, इसलिये उन्हें दुहना पड़ता था।

अर्चन, अग्निहोत्र स्वयं प्रचलित हो गये थे। अग्निकी सुरक्षा आवश्यक थी, अतः अग्नि उटजोंमें बराबर रहने लगी तो आहुति भी दी जाने लगी। स्नान सहज भारतीय जीवनका अङ्ग है। संध्या-पूजन भी लोगोंने अपना लिया।

सरोवर, वापियाँ स्वच्छ जलपूर्ण थीं। उन्हें पक्का बाँधा जाता तो जल सड़ता। वैसा कुछ नहीं हुआ तो उनमें स्वच्छन्द पक्षी बिहार करने लगे। मत्स्य, कच्छप पले और जलपुष्पोंने जलको स्वच्छ रखा।

सुरक्षित स्थानोंमें जहाँ भी मनुष्य बचे थे, उनमें उल्लेख करनेयोग्य कोई धर्माग्रह नहीं था। ग्रन्थ आरम्भिक कुछ शतियोंमें समाप्त हो गये और धीरे-धीरे स्मृति-परम्परा तथा संस्कार भी क्षीण हो गये। शुद्धान्तःकरणमें जो सहज ज्ञान प्रतिभासित होता है, वही प्रेरक रह गया। अतः सर्वत्र ऐसे स्थलोंमें अवशिष्ट मनुष्योंका एक ही धर्म रह गया।

अवश्य ही जैसे रुचि-भेद नैसर्गिक है, स्वभाव-भेद भी सनातन ही है। अतः सत्वगुणकी सघन सीमामें वह भी बना रहा। कोई अत्यन्त विरक्त एकान्तप्रिय थे और कोई भावप्राण, प्राणियोंकी सेवा–उन्हें वात्सल्य देनेमें विभोर। कुछ गम्भीर विचारक थे और कुछ कवि।

उस समयतक कहीं किसी मन्त्रद्रष्टा ऋषिका आविर्भाव नहीं हुआ था; किंतु सुरक्षित स्थलोंकी अपनी विशिष्टता बन गयी थी। कहीं अधिक तपोनिरत या ध्यानी थे और कहीं कवि अथवा विचारकोंका बाहुल्य था।

सम्भलग्राममें तपस्वी अधिक थे। तपस्यामें तेज होता है तो रुक्षता भी होती है। यहाँके पुरुष प्रायः असङ्ग, निरपेक्ष और अपने-आपमें सीमित रहनेवाले थे। अधिकांश पुरुष मौनी थे। वैसे तो सभी ऐसे थे कि बहुत प्रयोजन होनेपर ही बोलते थे। सामान्य समयमें तो संकेतसे ही काम चला लेते थे।

सम्भलग्रामकी एक विशिष्टता इधर और हो गयी थी । तपस्वीश्रेष्ठ विष्णुयश एक बार सीमासे बाहर चले गये थे । गये तो वे थे अधिक एकान्तका अन्वेषण ही करने, किंतु उसी दिन लौट आये थे । वाह्य संसारका जो वर्णन वे करते थे, वह बहुत अविश्वसनीय लगता था; किंतु उसे सुनकर बहुत करुणा जाग उठी थी । उन वर्णित पिशाचप्राय प्राणियोंमें जानका उत्साह तो क्या उठता, किंतु आशङ्का अवश्य उठ खड़ी हुई कि उनमेंसे कोई अपने क्षेत्रमें आ जाय तो क्या होगा ।

विष्णुयशने अवश्य अत्यल्प क्षेत्र देखा था । कौन कह सकता है कि उससे आगे अधिक दुरवस्था नहीं होगी । उस क्षेत्रका कोई आ जाय—'ऐसी ही आशङ्का जैसे किसी सभाके लोगोंसे कहा जाय—'तुम्हारे मध्य अत्यन्त सड़े मांसका भारी लोथड़ा फेंक दिया जाय तो ?'

सम्भलग्रामके लोग क्रोधसे, हिंसासे सर्वथा अपरिचित । किसीको ताड़न करके भगाया भी जा सकता है, जैसे यह उनके मस्तिष्कमें ही नहीं आता था । भागकर कहीं जानेको स्थान नहीं था । अतः पुरुषोंने एकमात्र उपाय अलक्ष्य सर्वसंचालकको पुकारना माना । वहाँ ध्यानके साथ प्रार्थना चलने लगी ।

करुणावरुणालय प्रभुको कोई सच्चे हृदयसे पुकारे और उसकी प्रार्थना न सुनी जाय, ऐसा तो कभी हुआ नहीं करता । सम्भलग्रमके लोग परम सात्त्विक, सदाचारी, तपस्वी थे । उनकी कातर पुकार अनसुनी नहीं की जा सकती थी । अकस्मात् उन लोगोंके मध्य तेजोदेह अनेक देवता गगनसे उतरे ।

आस्थावान् सरल सात्त्विक लोगोंने भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया । अञ्जलि बाँधकर खड़े हो गये—'हम सब आप लोगोंसे अपरिचित हैं । हम नहीं जानते कि आप सबका कैसे सत्कार करें । अतः अविनय क्षमा करके आप ही हमें आदेश करें ।'

सुर पृथ्वीका स्पर्श तो करते नहीं । वे किंचित् धरासे ऊपर ही खड़े रहे और बोले—'हम सब आप लोगोंके वन्दनीय नहीं हैं । हम तो केवल

आश्वासन देने आये हैं कि आप सबके लिए कोई आशङ्काका कारण नहीं है। वाह्य जगत्‌का कोई कदर्यप्राणी यहाँ प्रविष्ट नहीं होगा।'

वहाँके लोगोंको जैसे प्राण-दान प्राप्त हुआ। लेकिन सुरोंने आगे कहा—'साक्षात् श्रीहरि आपके मध्य कल्किरूपमें अवतीर्ण होने वाले हैं। हम महाभाग विप्रश्रेष्ठ विष्णुयशजीसे अनुरोध करने आये हैं कि वे अब वैराग्यको शिथिल करें और पत्नीको माता बननेका अवसर दें।'

सुर जैसे प्रकट हुए थे, वैसे ही गगनमें उठे और अदृश्य हो गये।

विष्णुयश—

अनेक संस्कार जातियोंके रक्तमें घुले-मिले रहते हैं। कितना भी परिवर्तन हो, कुछ लोग अवश्य उनका पालन करते चलते हैं और इस प्रकार उनकी परम्परा बनी रहती है। कहीं वे सचमुच सबल और सात्त्विक हुए तो उनका प्रभाव बढ़ता भी है।

यद्यपि भारतमें बहुत परिवर्तन हुआ था; किंतु कठोर कर्मनिष्ठ ब्राह्मणोंकी परम्परा बनी थी। बहुत थोड़े लोग बचे, विपरीत परिस्थितियोंमें उन्हें बहुत उपहास एवं विरोध सहना पड़ा; किंतु कुछ बच ही गये। इन्हीं अवशिष्ट लोगोंमें सम्भलग्रामके ब्राह्मणोंके पूर्वज भी थे।

पुनः सूचित कर दूँ कि सुरक्षित स्थलोंमें-से सम्भलग्राममें केवल ब्राह्मण और थोड़े वैश्य थे। क्षत्रिय या शूद्र नहीं थे।

इन ब्राह्मणोंमें अब तो सब नैष्ठिक कर्मपालक थे और वैश्य भी स्नान-संध्या, हवन नियमपूर्वक करते थे; किंतु यही पूरी परम्परा नहीं थी। कहना तो यह चाहिये कि यह परम्परा सुरक्षित-स्थल बन जाने के पर्याप्त बाद धीरे-धीरे बनी थी। प्रारम्भमें तो केवल एक नियम-निष्ठ ब्राह्मण थे वहाँ। उन्हींके परम्पराशुद्ध वंशमें अब श्रीविष्णुयश शर्मा बचे थे।

सुरक्षित-स्थल बन जाने पर, विज्ञानका चाकचिक्य दूर हो जानेपर जब जीवन सरल, सीधा हुआ तो परमार्थकी ओर आकर्षण बढ़ा। मनुष्यकी सहज श्रद्धा संयम, त्याग, तपमें है। उनके मध्य जो नियम-निष्ठ ब्राह्मण थे, वे सजीव प्रेरणा तो थे ही। फलतः दो-तीन पीढ़ियोंमें ही शिखा और यज्ञोपवीत-संस्कार आ गया। लोगोंने प्रायश्चित किये, अनेकने मरणान्त प्रायश्चित्त करके अपनी संततिका व्रात्य-दोष■ दूर किया। नियमित संध्या,

■ जब कोई द्विजाति स्वस्थ रहते लगातार तीन दिन संध्या न कर सके, कम-से-कम नौ बार गायत्रीका जप भी न करे तो उसे व्रात्य कहा जाता है। उसे प्रायश्चित्त करके पुनः यज्ञोपवीत पहनना होता है। एक पूरी पीढ़ी व्रात्य हो तो

हवन, पञ्चमहायज्ञ प्रचलित हुए तो अब शतियाँ बीत चुकी थीं। अवश्य ही स्तव एवं श्रुतिके मन्त्र कम ही कण्ठस्थ थे; किंतु कामचलाऊ तो थे ही।

विष्णुयशजी परम्परा-पुनीत थे; किंतु पौरोहित्यसे उनकी आत्यन्तिकी उपरति थी। प्रतिग्रह (दान) स्वीकार करनेका साहस उनकी पत्नी कर नहीं सकती थी। वह जानती थी कि पतिदेव इसके कितने प्रतिकूल हैं। पढ़ानेका कार्य भी कभी उन्होंने नहीं किया; किंतु विद्या-पिशाच भी नहीं बने। कभी कोई उपयुक्त अधिकारी कुछ पूछने आया तो उन्होंने बतलाने-समझानेमें कोई कृपणता नहीं की।

सम्भलग्रामका विप्रवर्ग उनका सम्मान करता था। वहाँ वे सर्वश्रेष्ठ स्वीकृत थे। उनके त्याग, तप एवं ज्ञानकी समता नहीं थी, किंतु स्वभावसे वे सहज रुक्ष थे। अतः उनका सौहार्द्र किसीको प्राप्त नहीं था। उनके समीप श्रद्धा-सहित जानेमें भी साहस करना पड़ता था।

पिताने परलोक-प्रस्थानसे पूर्व ही उनका परिणय कर दिया था, किंतु उन्होंने पत्नीका एकमात्र प्रयोजन समझा गृहकार्य करना। अपने उटजकी स्वच्छता, गो-सेवा, गोरस-मन्थन करके हवनके लिए घृत प्रस्तुत रखना और स्वतः उत्पन्न अन्नका इतना संग्रह करना कि हविष्यका अभाव न हो, यही कार्य था उस सतीका। उसके स्वामी जब केवल फल-दुग्धका ही आहार लेते थे, वह अन्नकी इच्छा भी कैसे कर सकती थी।

स्त्रीमें संतानकी कामना प्रकृति-प्रदत्त स्वभाव है। मातृत्वमें ही नारीकी सफलता है; किंतु सफलता नहीं, नारीकी सार्थकता है पुरुषको मुक्त कर देनेमें, इस सत्यको उस सतीने हृदयसे स्वीकार कर लिया था। संकेतसे भी संतान-कामना वह कैसे व्यक्त कर सकती थी, जबकि स्वामी उसे पाद-संवाहनका भी सुअवसर नहीं देते थे। उनकी सेवा प्राप्त है, यही उसने अपना सौभाग्य समझा।

एक गोदान और पता न हो कि कबसे कुल व्रात्य है तो मरणान्त प्रायश्चित्त है। तब संतानको यज्ञोपवीतका अधिकार होता है। व्रात्यको शूद्र माना जाता है। शूद्रके समान ही उसके अधिकार हैं, ऐसी पुराने समाजकी मान्यता है।

विष्णुयशजीमें तबसे बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया था, जबसे वे सम्भलग्रामकी सुरक्षित सीमासे बाहर जाकर लौटे थे। वे बहुत गम्भीर और उग्र हो उठे थे। वे स्वयं सावधान रहते थे कि दूसरोंके सम्पर्कसे दूर रहें, जिससे अन्तरका आक्रोश दबा रहे। अधिक एकान्तप्रिय हो गये थे और पत्नीसे भी प्रायः बोलते नहीं थे।

उस दिन जब वे सायंकालके लगभग लौटे थे, पत्नीने लक्षित किया था कि उनका गौर मुखमण्डल अरुण हो रहा था। वे श्रान्त और क्रुद्ध भी लगते थे। सम्भवतः उन्हें दौड़ना पड़ा था; किंतु पत्नीने कुछ पूछनेका साहस नहीं किया था। विष्णुयशजी भी किसीसे कुछ कहते नहीं थे; किंतु ग्रासके कई तरुण बाहर जाकर इसी प्रकार लौटे थे, अतः क्या हुआ होगा, यह समझा जा सकता था।

बाहरके बौने लोगोंने जब भी किसी सुरक्षित-स्थलके व्यक्तिको देखा, उन्होंने उसे दैत्य-दानव, पता नहीं क्या माना। दूरसे देखते ही उनमें कोलाहल मचा। भगदड़ हुई और फिर उनके राजाने अपने दास-सैनिक लेकर आक्रमण कर दिया। उनके समीप केवल पाषाण-भल्ल या पाषाण थे। भयके कारण कुछ दूर रहते ही वे प्रहार करते थे।

किसी भी सुरक्षित स्थलके शान्त, सदय निवासीके लिए यह आश्चर्यजनक बात थी। उसने जीवनमें जाना ही नहीं था कि कोई उससे भयभीत भी होता है या उसपर आक्रमण भी करता है। सिंह और सर्प भी उसके स्नेह-भाजन रहे थे। अतः वह भौंचक्का रह जाता था। भागकर अपने स्थानमें लौटनेके अतिरिक्त इन नये प्राणियोंको अभय देनेका उसके समीप दूसरा उपाय नहीं था। ये प्राणी न संकेत समझते थे न भाषा।

श्रीविष्णुयशजीके साथ भी यही हुआ था। इन खर्वकाय प्राणियों द्वारा फेंके दो-चार पाषाण लगे थे उन्हें। प्रतीकार तो वे क्या करते, किंतु उन्हें खेद यह था कि मनसे वे उन क्षुद्र प्राणियोंको क्षमा भी नहीं कर पा रहे थे।

'अल्पकाय चीत्कार करते अकारण आक्रमण करनेवाले आततायी!' विष्णुयशजी समझ गये थे कि वे अन्त्यज या म्लेच्छ हैं। मलिन तो वे थे

और उनमें एक भी यज्ञोपवीतधारी नहीं था। वे जो भाषा बोलते थे, वह भी असंस्कृत थी।

'क्या सम्पूर्ण देश इन्हीं म्लेछोंसे पूर्ण है?' इसका उत्तर कौन दे सकता था। सुरक्षित स्थलोंके दूसरे तरुण जो दूसरी दिशाओंमें गये थे, वे भी इसी प्रकारका समाचार लाये थे।

'यदि ये बर्बर कभी आक्रमण कर दें!' यह केवल अव्यक्त आशङ्का नहीं थी। सम्भलग्रामके वयोवृद्धोंने समिति एकत्र की थी और उसमें यह आशङ्का उपस्थित की थी। उस समय भी कोई समाधान मिला नहीं था। ऐसा प्रश्न पहले कभी उठा हो, किसीको स्मरण नहीं था। यह अत्यन्त अकल्पित आशङ्का आ गयी थी।

'सृष्टिके संचालक सर्वेश रक्षा करेंगे।' वहाँके वयोवृद्ध दूसरा कोई समाधान नहीं पा सके थे। समितिके लोग और दूसरे ग्रामवासी संतुष्ट तो नहीं हुए, किंतु अधिक समय सचिन्त रहना उनके स्वभावमें नहीं था। सब दृढ़ आस्तिक थे, अतः ईश्वरपर विश्वास करके निश्चिन्त हो गये।

सब तो निश्चिन्त हो गये, किंतु विष्णुयशजीके अन्तरका क्षोभ शान्त नहीं हुआ। उन्हें जब भी उस बर्बरवर्गका स्मरण आता था, चित्त क्षुब्ध हो जाता था।

सुरोंने स्वयं आकर एक नवीन आश्वासन दे दिया और आदेश भी। श्रीहरि स्वयं अवतीर्ण होनेवाले हैं, इससे आह्लादकारी समाचार क्या हो सकता था; किंतु सुरोंका दूसरा आदे............

हम-आप विष्णुयशजीके चित्तकी वृत्तिका अनुमान नहीं कर सकते। उस समयके उनके साथके ग्रामवासी भी नहीं कर पाते थे तो हम कैसे कर सकेंगे। वे अत्यन्त पवित्र, शौचाचार परायण ब्राह्मण लघुशङ्का करके भी आधा शरीर धोनेवाले। अब पत्नीकी ओर देखते तो मन पता नहीं, कैसी लज्जा और ग्लानिका अनुभव करने लगता था।

'यह पाशव आचरण!' विष्णुयशजीके मनमें घृणा जागती; किंतु

साथ ही स्मरण आता कि ग्रामके अन्य आदरणीय लोगोंके भी संतान हैं, तब यह कार्य घृणित ही कैसे हो सकता है।

अचानक एक दिन वे चौंके। अन्तरमें जैसे सहसा प्रकाश हो गया। अनेक बार मनुष्यको ऐसा प्रकाश प्राप्त होता है। किसी अत्यन्त साधारण बातपर ध्यान कभी गया ही नहीं था और जब वह बात सूझती है, मनुष्य चौंक-सा जाता है। उस दिन ऐसे ही विष्णुयशजी चौंके। ध्यान गया—'यदि पूज्य पिताजीने सृष्टिका यह सहज नियम स्वीकार न किया होता, मैं उत्पन्न ही कैसे होता?'

आज जैसे विष्णुयशजीको विवाहके प्रयोजनका पता लगा। रात्रि-शयनके समय वे उद्विग्न भी बहुत थे। उन बर्बरोंकी स्मृति क्षुब्ध किये थी। पृथ्वी उनसे कैसे परित्राण पावे—इसीमें उलझे थे। पत्नी पाद-संवाहनका साहस करके आ बैठी तो उसे वारित नहीं कर सके।

शीघ्र ही सम्भलग्रामकी स्त्रियोंमें शुभ समाचार फैला कि श्रीविष्णुयशजीकी सहधर्मिणी संतान प्राप्त करनेवाली हैं। समाचारने सभीको प्रसन्न किया।

कल्किका आविर्भाव-

आश्चर्यजनक है हिंदूधर्म और हिंदू ज्योतिर्गणित। अभी जिन पञ्चाङ्गोंके अनुसार कलियुगका अन्त होनेमें एवं कल्कि अवतार होनेमें लगभग चार लाख सत्ताइस हजार वर्ष बाकी हैं, उन पञ्चाङ्गोंमें भी कल्कि-जयन्ती प्रतिवर्ष छपी होती है। यह क्रम कबसे चला आ रहा है? पाश्चात्य ढंगके शोधकर्ता शोध करें कि पञ्चाङ्गका प्रचलन कबसे हुआ और पहली बार उनमेंसे किसमें, कब कल्कि-जयन्ती छपी।

सीधी बात, व्रत-पर्व मनानेकी परम्परा वैदिक है और वेद अनादि हैं। ज्योतिषको वेदका नेत्र कहा गया है; क्योंकि बिना मुहूर्त-शोधनके तो कोई यज्ञ होगा नहीं। जहाँ मुहूर्तकी बात आयी, पञ्चाङ्ग आया।

कागजपर छपे या लिखे पञ्चाङ्ग कितने भी अर्वाचीन हों, भारतीय ज्योतिषी तो ग्रह-नक्षत्रोंकी लिपिमें आकाशमें अङ्कित पञ्चाङ्गपर विश्वास करता है और अब भी देशमें ऐसे गणितज्ञ हैं, जो निर्मल नभके तारकोंको देखकर सृष्टि-संवत्, मास, तिथि बतला सकते हैं। अवतारोंका आविर्भावकाल इस आकाशके सनातन पञ्चाङ्गमें अङ्कित है। अतः उसे ज्ञात करके पञ्चाङ्ग छापते हैं, यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

अनेक प्राचीन संस्थानोंमें—प्रतिष्ठित मन्दिरोंमें सभी अवतारोंकी जयन्तियाँ मनायी जाती हैं। वैसे विशेषरूपमें कल्कि-जयन्ती कहीं मनायी जाती हो तो मुझे पता नहीं है। मैं तो मन्दिरों–विशेषतः दक्षिण भारतके मन्दिरों और पञ्चाङ्गोंके उल्लेखके कारण जानता हूँ कि भगवान् कल्किकी जयन्ती श्रावण शुल्क षष्ठीको पड़ेगी, अतः उसे अभीसे मनाया जाता है।

सम्भलग्राममें, उस सुरक्षित स्थलके सर्वमान्य ब्राह्मणश्रेष्ठ विष्णुयशकी पत्नीसे श्रावण शुक्ल षष्ठीको भगवान् कल्किका आविर्भाव हुआ।■

■ शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति॥

—भागवत १२।२।१८

इसमें मतभेद है कि भगवान् कल्किके प्रादुर्भावके साथ सतयुगका प्रारम्भ हुआ या उनके गर्भागमनके साथ हुआ या आविर्भावके लगभग पाँच-छ दिन पूर्व हो गया अथवा भगवान् कल्किके तिरोभाव-क्षणसे, जब वे दस्यु-संहारका कार्य पूर्ण कर चुके, तब सतयुगका श्रीगणेश हुआ ।*

ज्योतिषके विद्वान् इस विवादमें पड़ें और निर्णय करें। मैं अपने इस उपन्यासमें अन्तिम बात अर्थात् कल्किके तिरोभावकालसे सतयुगका प्रारम्भ मानने जा रहा हूँ।

इस विवादका मूल 'यदा' का अर्थ उस क्षण करना है। साधारण ज्योतिषी भी जानता है कि सूर्य और चन्द्र केवल अमावास्याको एक राशिपर होते हैं। वृहस्पतिको तो वर्षभर एक राशिपर रहना है। कल्किका आविर्भाव श्रावण शुक्ल षष्ठीको हुआ, अतः उस तिथिको तो एक राशिपर सूर्य तथा चन्द्रका होना सम्भव नहीं है। जब सतयुगके आरम्भका समय सूर्य, चन्द्र तथा पुष्यके वृहस्पतिका एक राशि (नक्षत्रके एक ही अंशपर युति) कहा जा रहा है तो आपको यह समय जन्म-समयसे भिन्न मानना होगा। अब भिन्न समय कौन-सा ? इसपर सबके तर्क पृथक्-पृथक् हो सकते हैं। जन्मसे ६ दिन पूर्वकी अमावास्या, गर्भाधानकालकी अमावास्या अथवा कलिके कदर्य लोगोंसे भूमिको स्वच्छ कर देनेका काल।

किसी जीवका तो जन्म होना नहीं था। श्रीहरिका आविर्भाव हुआ और जैसे सदा होता रहा है, वैसे ही हुआ। महाभाग विष्णुयशके घरमें उनकी पत्नीके सम्मुख सशङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी, मुकुट-किरीटी, वनमाली, पद्मपलाशलोचन, परमप्रभु प्रकट हुए; किंतु कुछ विशेषता लिये हुए। वह श्रीमूर्ति पीताम्बरधारी अथवा नवनीरदश्याम नहीं थी और न शान्ततेजा थी। वे कौस्तुभ-कण्ठ, श्रीवत्सवक्षा अरुणवस्त्र धारण किये थे। प्रचण्डतेजा थे और पाटलगौरवर्ण थे।

---

* **यदावतीर्णो भगवान् कल्किर्धर्मपतिर्हरिः ।**
कृतं भविष्यति तदा प्रजासूतिश्च सात्त्विकी ॥
यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यवृहस्पती ।
एकराशौ समेष्यन्ति तदा भवति तत् कृतम् ॥

—भागवत १२।२।२३-२४

सत्य तो यह है कि उनके असह्य तेजके सम्मुख माताके नेत्र भी निमीलित हो गये। लगा कि साक्षात् भुवनभास्कर भटककर धरापर आ गये हैं; किंतु जैसे देवमाता अदितिके सम्मुख चतुर्भुज प्रकट होकर ये विश्वेश तत्काल वामन बन गये थे, वैसे ही इस बार भी अपनी उसी शक्तिसे, कौशलसे तत्काल द्विभुज बन गये। उनका केवल वस्त्र बना रहा। अस्त्र, आभूषण, वनमालादि अदृश्य हो गये। उनका तेज सर्वथा अदृश्य तो नहीं हुआ, किंतु सामान्य हो गया।

विशाल भाल, कमललोचन, अरुणाभ वर्ण, आजानुबाहु, अरुणवस्त्र वह विचित्र तेजस्वी बालक; किंतु परम विनीत। उसने हाथ जोड़कर माताको प्रणाम किया।

जो इस प्रकार प्रकट हुआ, उसका नालच्छेदन कहाँसे होता। उसका नाभि-नाल ही नहीं था। जब नालच्छेदन नहीं तो जातकर्मका भी प्रश्न नहीं बनता और न उत्पन्न होते ही किशोर वयके हो जानेवाले बालकके लिए भूम्युपवेशन, दुग्धपान, कर्णवेध, अन्नप्राशन, चूड़ाकरणादि संस्कार सम्भव थे। ये संस्कार प्रचलित भी नहीं रह गये थे।

जैसे प्रजापति कश्यपने प्रकट होते ही वामनका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न कराया था, श्री विष्णुयशजी भी उसीका आयोजन करने लगे। अन्ततः वामनकी ही भाँति कल्किका अवतार भी तो कार्य-विशेषके लिए ही हुआ था। श्रीराम अथवा श्रीकृष्णके समान उन्हें सम्पूर्ण नर-नाट्य तो करना नहीं था; किंतु ब्राह्मणोत्तमके पुत्र बनकर प्रकट हुए तो उपनयन आवश्यक कर्म तो बन ही गया।

सम्भलग्रामके तपस्वी ब्राह्मण परम आस्तिक थ। सुर पहले ही श्रीहरिके आविर्भावकी सूचना दे चुके थे। अतः आश्चर्य या आशङ्का किसीको नहीं हुई। सबमें उत्साह उमड़ा।

मृगशिरा नक्षत्रके तृतीय चरणमें प्रकट होनेके कारण पिताने कुमारका नाम कल्कि रख दिया। इस नामकी सूचना भी सुरोंने दी थी और शास्त्र एवं पूर्वजोंकी परम्परासे यह नाम सुना हुआ था।

कल्किने केश बिदा कराये। उपनयनसे पूर्व ब्रह्मचारीका क्षौरकर्म तो होता ही है। उनके मुण्डित मस्तकपर हरिद्रालेप हुआ। ब्राह्मणोंने उन्हें सविधि सब कर्म सुझाये और वे स्वयं करते गये। सस्वर श्रुतिके मन्त्र वे स्वयं बोलते जाते, किंतु ब्राह्मणोंने मना कर दिया। यज्ञोपवीतके पश्चात् ही वेदपाठका अधिकार प्राप्त होता है।

'इस ब्रह्मचारीको गायत्री-श्रवण मैं कराऊँगा।' सहसा तेजोमूर्ति महर्षि दीप्तिमान्‌ने गगनसे उतरते ही कहा।

'भगवन्! यह भार्गव वैष्णुयशस कल्कि श्रीचरणोंमें प्रणिपात करता है।' कल्किने उठकर शुद्ध वैदिक परम्पराके अनुसार अकस्मात् आगत आचार्यको प्रणाम किया।

'आयुष्मान् भव!' आचार्य महर्षि दीप्तिमान्‌ने आशीर्वाद दिया।

इस प्रकार एक समस्या सुलझ गयी। सम्भलग्रामके सब ब्राह्मणोंमें भी श्रीविष्णुयश ही श्रेष्ठ थे, सर्वपूज्य थे। उनके पुत्रका आचार्य अथवा पौरोहित्य पद किसे प्राप्त हो, यह प्रश्न उठने ही वाला था। आशङ्का थी कि सदासे शान्त, निरपेक्ष ब्राह्मणोंमें भी विवाद उठ खड़ा होगा। यह साक्षात् श्रीहरिके पुरोहित होनेका सम्मान इतना अल्प नहीं था कि उसे कोई सहज त्याग देनेकी इच्छा करे। आशङ्काके कारण ही समस्या मुखरित नहीं हुई थी। सब वृद्ध उसे यथासम्भव टालते जा रहे थे।

तेजोमूर्ति महर्षि दीप्तिमान् गगनपथसे उतरे थे। उनके तेज तथा तपः सिद्धिने उनका श्रेष्ठत्व सिद्ध कर दिया और जब स्वयं कल्किने उन्हें साष्टाङ्ग प्रणिपात किया, सिद्ध हो गया कि इन अवतीर्ण श्रीहरिने महर्षिको आचार्य स्वीकार कर लिया।

महर्षिने स्वयं अपना परिचय दिया। जब पता लगा कि वे आगामी मन्वन्तरके सप्तर्षिगणोंमें हैं तो वृद्ध ब्राह्मणोंने भी उनकी पद-वन्दना करके अपनेको कृतार्थ माना।

समित् हवन हुआ कुशास्तरण एवं परिसमूहन के पश्चात्। यज्ञोपवीत-धारण कराया महर्षिने और गायत्री-दीक्षा दी। सविधि संस्कार सम्पन्न

हो जानेके पश्चात् महर्षिने उपनीत ब्रह्मचारीको उपदेश तो किया, किंतु परम्परागत उपदेशोंसे भिन्न ही उपदेश किया। **'सत्यं वद धर्मंचर। स्वाध्यायान्मा प्रमद।'** प्रभृति कोई परम्परा प्रचलित उपदेशवाक्य उन्होंने नहीं कहे।

'वत्स ! पलाश दण्डका विसर्जन कर दो।' महर्षि दीप्तिमान्‌ने सबको चौंका दिया उपदेशके आरम्भमें ही यह आज्ञा देकर।

'भगवन् ! नवीन ब्रह्मचारी अन्तेवासी नहीं बनेगा ?' श्रीविष्णुयशजी खिन्न हो गये। उन्हें आशा हो गयी थी कि उनके पुत्रको ब्रह्मचारीरूपमें महर्षि अपना विद्या-शिष्य भी स्वीकार कर लेंगे और अपने साथ अपने आश्रमको ले जाकर वेदाध्ययन करायेंगे।

'अन्तेवासी तो यह बनेगा; किंतु वेदाध्ययनकी इसे आवश्यकता नहीं है। श्रुतियाँ तो सहज इनके कण्ठमें निवास करती हैं।' महर्षिने शान्त स्वरमें कहा—'इनको जो कार्य करना है, उसके शिक्षणके योग्य आचार्य तुम्हारे कुलपुरुष भगवान् परशुराम ही हैं। आगामी मन्वन्तरमें उन्हें भी मेरे साथ सप्तर्षियोंमें रहना है। अतः मुझसे उनका स्नेह-सम्बन्ध है। मुझे आशा है कि मेरा सङ्कल्प उनतक पहुँच गया होगा। वे स्वयं पधारकर अपने शिष्यको साथ ले जायँगे। हम सब उनके आगमनकी प्रतीक्षा करें।'

परशुरामका पदार्पण-

अमिततेजा, प्रलम्बकाय परशुपाणि, प्रचण्डपौरुष-प्रसिद्ध, भगवान् परशुराम अकस्मात् आचार्य दीप्तिमान्के समान ही गगनसे सम्भलग्रामके ब्राह्मणोंके सम्मुख उतरे। सबने ही उन्हें साष्टाङ्ग प्रणिपात किया। उन्होंने महर्षि दीप्तिमान्को अङ्कमाल देकर शेष सबको आशीर्वाद दिया।

'भगवन् ! आप सर्वज्ञ हैं। आपसे कुछ अज्ञात नहीं है।' परशुरामजीने जब आसन-ग्रहण कर लिया और उनका अर्चन हो चुका, तब महर्षि दीप्तिमान् कल्किको अपने साथ लेकर परशुरामजीके सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने निवेदन किया—'यह सद्यः-उपनीत ब्रह्मचारी मैं आपके श्रीचरणोंमें धनुर्वेदके शिक्षणके लिए समर्पित करता हूँ। आप इसे अपना अन्तेवासी स्वीकार करें।'

'प्रार्थनाकी औपचारिकता आवश्यक नहीं थी।' परशुरामजीने कहा—'मैं स्वयं इसी उद्देश्यसे उपस्थित हुआ। बहुत पहले ही महर्षियोंने यह निश्चित कर दिया है कि कल्किका आविर्भाव होनेपर इन्हें शस्त्र-संचालनका प्रशिक्षण परशुराम देंगे।'

'आप जहाँ जैसी व्यवस्था आवश्यक समझें........।' सम्भलग्रामके एक वृद्ध पुरुषने हाथ जोड़कर प्रार्थना करना चाहा।

'आपको सम्भवतः पता नहीं है कि अतीतमें परशुरामने सम्पूर्ण पृथ्वी अपने पराक्रमसे प्राप्त करके ब्राह्मणोंको दान कर दी है।' परशुरामजीने उस वृद्धको बोलने नहीं दिया—'उस समय आचार्य महर्षि भृगुने आज्ञा दे दी कि मैं अपनी दान की हुई भूमिपर रात्रि-विश्राम नहीं करूँ। अतः मैंने समुद्रसे भूमि प्राप्त की। अन्तेवासी गुरुकुल जाते समय कुछ नहीं ले जाया करता। उसके स्वजन-सम्बन्धी उसे कोई सामग्री नहीं दे सकते। गुरु ही शिक्षण-कालमें उसका आश्रय एवं पालक होता है। मुझे कहीं कोई व्यवस्था आवश्यक नहीं है।'

'भगवन् ! मैं अपने प्रमादके लिए लज्जित हूँ।' उस वृद्धने मस्तक झुकाकर क्षमा माँग ली।

परशुरामजी स्वभावसे उग्र, उनसे आशा नहीं की जा सकती कि वे किसीके लिए भी किसी नियममें कोई शिथिलता आने देंगे। उन्होंने आवश्यक नहीं माना महर्षि दीप्तिमान्से भी विदा लेना। विष्णुयशजी अथवा सम्भलग्रामके दूसरे किसीसे तो उन्होंने एक शब्द भी फिर नहीं कहा। सीधे कल्किसे बोले—'वत्स ! महेन्द्राचल बहुत दूर है। मैं पृथ्वीपर रात्रि-विश्राम मध्यमें कर नहीं सकता। अतः तुम मेरे उत्तरीयभूत ऐणेयाजिनका छोर पकड़ लो। इससे आकाशमार्गसे तुम मेरे पीछे सहज चल सकोगे।'

'भगवन् ! आज्ञा हो तो मैं ऐसे ही आपका अनुगमन करूँ।' कल्किने हाथ जोड़कर प्रार्थना की।

'अच्छा, आओ !' परशुरामजीने दृष्टि उठाकर एकबार कल्किके मुखकी ओर देखा और आकाशमें ऊपर उठ गये। जन्मसे ही अष्टैश्वर्ययुक्त कल्किको उनके पीछे चल देनेमें कोई कठिनाई नहीं थी। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व सिद्धियोंकी पूर्ण-प्रतिष्ठा ही उनमें है।

सम्भलग्रामवासियोंने गगनमें जाकर अदृश्य होते उन गुरु-शिष्यको भूमिपरसे ही मस्तक झुकाया।

सम्भलग्रामके लोगोंने सुना अवश्य था कि उपनयनके पश्चात् ब्रह्मचारी अध्ययनके लिए गुरु-गृह जाता है; किंतु यह तो अतीतकी किंवदन्तीमात्र थी। ऐसा कुछ सचमुच होता है, इसका कोई अनुभव वहाँ किसीको नहीं था। वहाँ सीमित क्षेत्र, उपनयनके पश्चात् पिता ही शिक्षक न हो जाय तो कोई पड़ोसी होता था। ब्रह्मचारीको माता-पिताके समीप ही रहना था और यह जो अद्भुत बालक उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होनेके दिन ही उपनीत होकर पता नहीं, कहाँ चला गया। उसके लौटनेकी कोई अवधि निश्चित नहीं। किसीने इस सम्बन्धमें परशुरामसे पूछातक नहीं। माताके हृदयकी अवस्था आप समझ सकते हैं।

महाभाग विष्णुयशजीको भी कम दुःख नहीं था। भगवान्‌के प्रति मोहका नाम ही तो भक्ति है। वात्सल्य तो उमड़ा पड़ता था कल्किको देखते ही वहाँके वृद्धों-वृद्धाओंमें। किसीको कल्पनातक नहीं थी कि इतना सुकुमार, अल्पवय बालक उनके मध्यसे सहसा इस प्रकार चला जायगा।

महर्षि दीप्तिमान्‌ने सबको कल्किका प्रभाव और अवतार-प्रयोजन समझाया। उन्होंने कहा—'श्रुतिसम्मत आर्य-परम्परा है कि उपनयनके पश्चात् ब्रह्मचारी बालक गुरुगृह चला जाता है। वहाँ वह अपनी शिक्षा सम्पूर्ण होनेतक संयमपूर्वक, गुरुसेवा करता निवास करता है। शिक्षा पूर्ण होनेपर वहीं उसका समावर्तन-संस्कार होता है।'

'समावर्तन-संस्कार ?' एक वृद्धने पूछा।

'इन संस्कारोंकी परम्परा लुप्त हो गयी। अब उनकी पुनर्स्थापनाका समय आ रहा है।' महर्षि दीप्तिमान्‌ने बतलाया—'किंतु कल्कि जन्मसिद्ध हैं, यह आप सबने देख ही लिया है। वे क्या करेंगे, कहा नहीं जा सकता। अभी तो वे परशुरामजीसे सविधि शस्त्र-संचालनका प्रशिक्षण लेंगे।'

'हम ब्राह्मणोंको इसका प्रयोजन ?' विष्णुयशजीके चित्तमें पुत्रके धनुर्वेद-शिक्षणकी बात नहीं बैठ रही थी।

'आपके समान भगवान् परशुराम भी भार्गव ही हैं।' महर्षि दीप्तिमान्‌ने कहा—'उन्होंने द्वापरान्तमें ही प्रतिज्ञा कर ली कि किसी क्षत्रियकुमारको शस्त्र-संचालन नहीं सिखलायेंगे। उनका अवतार जैसे भूभार-हरणके लिए हुआ था, वैसे ही कल्किका आविर्भाव भी पृथ्वीको कीटप्राय कदर्य दस्युओंसे स्वच्छ करनेके लिए ही हुआ है।'

महर्षि दीप्तिमान्‌को भी बिदा होना था। सम्भलग्रामके लोगोंके समीप संतोष करनेके अतिरिक्त तो कोई उपाय नहीं था। अवश्य ही उनके अन्तरमें कल्किकी कमनीय मूर्ति प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उनका चिन्तन कल्किमें केन्द्रित हो चुका था। कल्किकी चर्चा ही वहाँका मुख्य कार्यक्रम बन गया था।

दीर्घ दिन लगने लगे सबको उस समयसे। कल्किको कुछ वर्ष तो नहीं लगने थे, किंतु कुछ मास तो लगते ही। सभीको लगा कि वह समय युगोंके समान हो गया है।

उधर भगवान् परशुरामने महेन्द्राचल■ पर पहुँचकर पहला काम किया कि कल्किको अपनी कामधेनुकी सेवा दे दी। उन्होंने कल्किसे कहा—'वत्स ! तुम्हें बहुत अधिक संहार करना है। उससे भी अधिक, जितना पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियहीन करनेमें मुझे करना पड़ा। अतः पहले तुम पूज्य एवं रक्षणीयोंका सम्मान् उनकी सेवा करो। इस सुरभिको अपनी सेवासे संतुष्ट करो ! यहाँ इसीका पय तुम्हारा पोषण करेगा।'

कल्किको मातृस्तनका पय प्राप्त नहीं हुआ था। परशुरामजीने कृपाकरके अपनी कामधेनुके दुग्धको पी लेनेकी उन्हें अनुमति दे दी। यह अनुमति उन्होंने केवल एकबार द्वापरान्तमें श्रीकृष्ण-बलरामको दी थी।*

कामधेनु समस्त अभीष्ट पूर्ण करनेवाली, सब प्रकारकी सामग्री देनेवाली; किंतु परशुरामजीको तो कभी कुछ चाहिये ही नहीं। वे उसका अमृत पय भी कभी ही पान करते थे।

कल्कि भी कम निरपेक्ष नहीं थे। उन्हें पय-पान की भी कोई कामना नहीं थी; किंतु परशुरामने ही विशेष आग्रह किया—'वत्स ! तुम प्रतिदिन इस गौके दुग्धका सेवन करो। तुम्हें अपना कार्य आरम्भ करनेपर आहारका भी अवकाश नहीं मिलना है। इस कामधेनुका दूध तुम्हें स्थिर पुष्टि और अक्षय शक्ति प्रदान करेगा।'

कल्कि सावधानीपूर्वक गो-सेवामें संलग्न हो गये। वे रात्रिमें कामधेनुके समीप घृतदीप रखकर, उसके पास ही शयन करते थे। प्रभातसे पूर्व उठकर पहले उसे प्रणाम करते और अनुमति लेते—'अम्ब ! मैं आह्निक कर आऊँ ?'

■ आन्ध्रप्रदेशमें मण्डासा रोड स्टेशनके पास यह पर्वत है। इसे वहाँ 'मण्डासा-गिरि' कहते हैं। वैसे इससे निकलनेवाली नदीका नाम अभी 'महेन्द्र-तनया' ही है।

* 'भगवान् वासुदेव' में यह पूरी कथा गयी है।

'हुँ।' कामधेनु हुँकार करके अनुमति देती थी। स्नान-संध्या करके कल्कि जल-कलश और पुष्प साथ ही ले आया करते थे। वे आकर कामधेनुका पूजन करते और तब गोशाला-स्वच्छ करनेमें लग जाते।

गो-दोहनका तो नाम करना था। बछड़ा जब मातृस्तन पीकर तृप्त हो जाता, पत्तेके दोनोंमें कल्कि थोड़ा दूध दुहकर पी लेते। भगवान् परशुराम कभी ही उनका आग्रह स्वीकार करके दूध लेते थे।

कामधेनु बाँधी नहीं जाती थी। सबेरे जब वह स्वयं चरने चल देती थी, कल्किको केवल उसका अनुगमन करना था। वे उसके शरीरपर कोई मक्खी-मच्छर न बैठे, इसीका ध्यान रखते थे और जब वह समीप आकर खड़ी हो जाती थी, उसका संकेत समझकर उसका शरीर सहलाया करते थे।

कल्किने अपनी ओरसे एकबार भी गुरुदेवसे नहीं पूछा कि उनका शिक्षण कब प्रारम्भ होगा। वे संयम, श्रद्धा, सावधानी सहित गो-सेवामें लगे थे। इसीको उन्होंने अपना शिक्षण मान लिया था। इसका सुफल हुआ। सहसा एक दिन वनमें उस सुरधेनुका श्रीअङ्ग ज्योतिर्मय हो उठा। उसने स्पष्ट कहा—**'संतुष्टाऽस्मि, वरं ब्रूहि।'**

कल्कि उसके सम्मुख शीघ्रतापूर्वक साष्टाङ्ग पड़ गये। गौ ने उनका सिर सूँघा। उठकर घुटनोंके बल बैठकर अञ्जलि बाँधकर बोले—'अम्ब! केवल आपका अनुग्रह अपेक्षित है।'

कामधेनुने आशीर्वाद दे दिया—**'सफलकामो भव!'**

प्रशिक्षण—

अनावश्यक कोई भूमिका नहीं। भगवान् परशुरामने सायंकाल सुना कल्किसे कामधेनुके आशीर्वाद देनेका समाचार और आज्ञा दे दी—'कलसे तुम्हारा प्रशिक्षण प्रारम्भ होगा। गौ स्वतः चर आनेकी अभ्यासी है। सृष्टिमें कोई उसे कष्ट देनेका साहस नहीं करेगा।'

पहली बार परशुरामजीको ऐसा शिष्य प्राप्त हुआ था, जिसके पास अपना कोई शस्त्र नहीं था। परशुरामजी कोई प्रशिक्षण-विद्यालय तो चलाते नहीं थे कि उनके पास शिक्षार्थियोंके लिए शस्त्र हों। नवीन शस्त्र-निर्माण सुगम नहीं था। पृथ्वीकी धातुएँ कभीकी घिसकर समाप्त हो चुकी थीं। अब तो जब कभी मिट्टीसे उन्हें पुनः प्राप्त करना सुगम होगा, तब शस्त्र बनेंगे।

इस समस्यापर परशुरामजीने दो क्षण सोचा। फिर अपने धनुष और त्रोणकी ओर संकेत करके कल्किसे कहा—'वत्स! यदि तुम इन्हें धारण कर सको तो तुम्हारा प्रशिक्षण आजसे प्रारम्भ हो सकता है। अन्यथा मुझे स्वर्ग जाकर सुरोंसे कुछ शस्त्र लाने होंगे।'

कल्किने उस धनुष और त्रोणकी प्रदक्षिण करके उन्हें प्रणाम किया। सहज ढंगसे उन्होंने त्रोण उठाया और धारण किया। धनुषको ज्या-सज्ज करनेमें उन्हें कोई भी कठिनाई नहीं हुई।

कल्किने जब धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा ली, परशुपराम प्रसन्न हो गये। शिष्यके पौरुषकी परीक्षा हो गयी। सिद्ध हो गया कि कल्कि उचित अधिकारी हैं।

वैसे भी परशुरामजीका स्वभाव इसी प्रकार परीक्षा लेनेका था। त्रेतामें श्रीरामको वैष्णव धनुष चढ़ानेको कहकर उन्होंने परीक्षा ली थी।

द्वापरान्तमें कंसको शैव धनुष उन्होंने इसी प्रकार दिया था।■ अब कलियुगके अन्तमें भी उसी प्रकार कल्किकी परीक्षा हुई। यद्यपि यह परीक्षा परशुरामजीने जान-बूझकर नहीं ली थी, किंतु कल्किकी सफलतासे वे संतुष्ट हुए थे।

'वत्स! अबसे ये त्रोण और धनुष तुम्हारे हुए।' परशुरामने कहा—'मुझे इनका कोई प्रयोजन नहीं है। यह त्रोण अक्षय हैं और इस धनुषको या इसकी प्रत्यञ्चाको किसी प्रकार काटा नहीं जा सकता।'

'ये आपके प्रसाद हैं, मेरे लिए इनका यही महत्त्व सर्वोपरि है।' कल्किने सचमुच धनुष और वाणोंका शिक्षण-कालके अतिरिक्त कभी प्रयोग नहीं किया। वे धनुर्धर बने ही नहीं। दूर रहकर किसीको शर-विद्ध करना उनको सदा अप्रिय रहा।

'वत्स! संग्राममें अथवा लक्ष्यवेधमें सबसे मुख्य सूत्र है—एकाग्रता।' परशुरामजीने पहले सिद्धान्त समझाया—'लक्ष्यके अतिरिक्त मन और दृष्टि अन्यत्र नहीं जायगी तो सफलता असन्दिग्ध रहेगी।'

"शारीरिक शक्तिका महत्त्व अत्यल्प है। शौर्य शरीरबलका नाम नहीं है।' परशुरामने दूसरा सूत्र सुनाया—'साहस और स्वयं अपने शरीरकी चिन्ता, सुरक्षासे निरपेक्षताका नाम 'शौर्य' है। स्फूर्ति शौर्यकी सहधर्मिणी है। स्फूर्तिहीन शौर्य अपूर्ण होता है।"

'साहस अशङ्क होता है।' परशुरामने तीसरा और अन्तिम सूत्र दिया—'कायर अथवा भीरु प्रथमाक्रमण करता है, किंतु आततायीको अवसर देना या क्षमा करना अपराध है। इससे बलवान्, विजयीको भी संक्रटग्रस्त होना पड़ता है।'

परशुरामजीने बतला दिया—'अब मुझे शस्त्र ग्रहण नहीं करना है। मैं केवल तुम्हें वाणी-प्रशिक्षण दूँगा। आशा है, यह तुम्हारे लिए पर्याप्त होगा।'

■ कथा 'भगवान् वासुदेव' में पूरी है।

कल्किके लिए संकेत पर्याप्त थे। उन्हें लक्ष्य-वेधका अभ्यास नहीं करना पड़ा। चल-अचल, स्थूल-सूक्ष्म, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष—सब लक्ष्योंको उन्होंने पहली बारमें विद्ध किया। उन्होंने खड़े, बैठे, चलते, लेटे या दौड़ते रहकर भी लक्ष्य-वेध कर लिया और जलके भीतरके लक्ष्यको भी विद्ध करनेमें उन्हें कठिनाई नहीं हुई।

लक्ष्य-वेध धनुर्वेदका पहला पाठ है। यह पूर्ण हो जानेके पश्चात् परशुरामजीने हस्त-लाघवका क्रम प्रारम्भ किया। किसी पुष्पकी आधी पंखुड़ी काट देना, किसी तितली या भृङ्गको उड़नेमें बिना आघात पहुँचाये अटका देना, किसी भी पशु या जलचरके मुख खोलनेपर उसका मुख शरोंसे ऐसे भर देना कि उसे कोई क्षति न हो, कोमल कीटको बिना मारे कहींसे अन्यत्र धर देना—ये हस्त-लाघवकी क्रियाएँ भी कल्किने सिद्ध कीं।

अब परशुरामजीने निःसंकोच कल्किको दिव्यास्त्र देने प्रारम्भ किये। वैसे प्रारम्भमें ही आदेश दिया—'वत्स ! प्राण-संकट उपस्थित होनेपर भी अनस्त्रज्ञके विरुद्ध दिव्यास्त्रका कभी प्रयोग मत करना। यह पाप है।'

'भगवन् ! विपक्षी अस्त्रज्ञ है, इसका पता कैसे लगेगा, यदि वह अपरिचित हो ?' कल्किने जिज्ञासा की।

'सामान्य शर-युद्धमें यदि प्रतिपक्षी पर्याप्त कुशल हो और अपने वाण काटे दे रहा हो तो पहले उसपर सामान्य दिव्यास्त्रका प्रयोग करो।' परशुरामजीने व्यवस्था दी—'ऐसे स्थलपर प्राचीन-परम्परा आग्नेयास्त्रसे आरम्भ करनेकी है; क्योंकि प्रयोक्ता स्वयं इस अस्त्रका सरलतापूर्वक उपसंहार कर सकता है। यदि प्रतिपक्षी बारुणास्त्रसे अस्त्राग्नि शान्त न कर सके और संकटापन्न हो जाय तो अस्त्र उपशमित कर लो।'

'अमोध दिव्यास्त्रोंका प्रयोग मानवोंके विरुद्ध मत करो और कोई दिव्यास्त्र संकल्प-सीमित किये बिना भी प्रयोग मत करो !' परशुरामजीने स्पष्ट सीमा बना दी—'अमोघ दिव्यास्त्र अतिमानव शक्तियोंको शान्त करनेके लिए हैं, यदि वे मर्यादाका अतिक्रमण करें। सुर या असुर—दोनों ऐसे होने सम्भव हैं। प्रतिपक्षी अस्त्रज्ञ हो तो भी अस्त्र-प्रयोगसे पूर्व संकल्प करो कि अपने अस्त्रसे कितना सीमित संहार चाहते हो।'

'भगवन् ! ऐसे अस्त्रज्ञ क्या पृथ्वीपर असंख्य हैं ?' कल्किने सहज पूछा।

'इस समय तो धरापर कीटप्राय मनुष्य हैं।' परशुरामने हँसकर कहा—'उनके समीप अत्यन्त स्थूल शस्त्र हैं। वे पाषाण, परिघका प्रयोग जानते हैं। अश्वत्थामा, कृपाचार्य-जैसे कुछ शस्त्रज्ञ हैं, किंतु उनसे कोई आशङ्का नहीं। वे तुम्हारे अनुगामी ही बनेंगे; किंतु असुरोंके द्वारा अवरोध नहीं उत्पन्न होगा, ऐसी बात सुनिश्चित नहीं है।'

यह दूसरी बात है कि कल्किका अवरोध करने असुर धरापर नहीं आये। दानवेन्द्र मय और दैत्यराज बलिने उन्हें डरा दिया। समझा दिया कि सुतलमें जो दैत्योंके द्वारपाल हैं, वे ही वामन प्रभु धरापर कल्किका रूप धरकर अवतीर्ण हैं। अतः असुरोंने कल्किके रहते धरापर पैर ही नहीं धरा।

भगवान् परशुरामने कल्किको आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, वामव्यास्त्र, पर्वतास्त्र, वज्रास्त्र—सब दिये। ब्रह्मास्त्रतकके मन्त्र भी बतलाये और इन अस्त्रोंको उपशमित करना भी सिखलाया।

परशुरामजीके त्रोणोंमें बहुत बड़े वाण भी थे और वितस्ति-वाण भी। उन सबका उपयोग, संचालन, उपशम, प्रतीकार प्रभृति सब परशुरामजी सिखलाते गये। दिव्यास्त्रोंके तो मन्त्र ही सिखलाने थे। कल्किने विनम्रता एवं सावधानीपूर्वक उन्हें धारण किया। दिव्यास्त्रोंका प्रयोग समराङ्गणमें उपयुक्त अवसर उपस्थित होनेपर ही सम्भव था। कल्किको कभी उनका उपयोग नहीं करना पड़ा।

अस्त्र-प्रशिक्षणके समान शस्त्र-चालनकी शिक्षा केवल मौखिक सम्भव नहीं थी और परशुरामजीके पास उनके अपने परशुके अतिरिक्त कोई शस्त्र था भी नहीं। साथ ही वे यह भी अनुभव करते थे कि उनके इस शिष्यको शस्त्रोंसे ही काम पड़ना है। अतः उन्हें काष्ठके कृत्रिम शस्त्र बनाने पड़े। गदा और खड्ग उन्होंने बनाये। काष्ठदण्ड भल्लका भी काम दे सकता था।

परशुरामजी स्वयं एकाकी ही युद्ध करते रहे थे। उन्होंने क्षत्रियोंकी व्यूह-वद्ध सेनाओंका संहार किया था। उनसे अच्छा प्रशिक्षक इस विषयका सुरोंमें भी सम्भव नहीं था। एकाकी व्यक्तिको कैसे व्यूह-भेद करना चाहिये। शत्रु-समूहमें कैसे आतङ्क उत्पन्न करना चाहिये। अपने प्रहारकी दिशा और लक्ष्य कैसा रखना चाहिये और कैसे स्वयं घिर जानेसे सुरक्षित रहना चाहिये, इसका प्रकाण्ड पाण्डित्य परशुरामके पास था। उन्होंने कल्किको इसमें भली प्रकार निपुण किया।

'इस समय धराके क्षुद्र मानवोंके समीप कोई वाहन नहीं है। यदि असुर ही अवरोध करें तो उनके विरुद्ध तुम दिव्यास्त्रोंका बिना संकोच प्रयोग कर सकते हो।'

'भगवन्! आपका आशीर्वाद और आपके द्वारा प्राप्त शिक्षा मेरे लिए पर्याप्त है।' कल्किने अपनी निष्ठा स्पष्ट कर दी।

'भूभारहरण करो!' परशुरामजीने अन्तमें यही गुरु-दक्षिणा माँगी। कल्किको तो यह अभीष्ट था ही।

शस्त्र-प्राप्ति-

'अब तुम्हें शस्त्र प्राप्त करना चाहिये।' प्रशिक्षण पूर्ण हो जानेपर परशुरामजीने कल्किसे पूछा—'तुम्हें कौन-सा शस्त्र प्रिय होगा ?'

गुरुका गौरव केवल शिष्यको कुछ सिखा देनेमें नहीं है। गुरुका गौरव है, शिष्यको समर्थ बना देने और शिष्यकी रुचिके अनुकूल साधन प्राप्त करनेका पथ-प्रशस्त कर देनेमें।

'यह' कल्किने काष्ठ-निर्मित करवाल हाथमें उठा ली। कल्कि परशु पसंद करते तो परशुराम अपना परशु उन्हें देनेमें संकोच नहीं करते; किंतु खड्ग तो उनके समीप नहीं था और उसका निर्माण भी वे कर नहीं सकते थे। काष्ठ-खड्ग तो उन्होंने केवल प्रशिक्षणके लिए प्रस्तुत किया था।

'तुम्हारी रुचि परिष्कृत है।' परशुराम अप्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने अपने सुयोग्य शिष्यकी प्रशंसा की—'इस समय धरापर जो दस्यु हैं, उनके दमनमें धनुष-वाणका प्रयोग अत्यन्त निष्ठुरता कही जायगी; क्योंकि वे इतने अल्पकाय हैं कि उनके फेंके पाषाण-खण्ड भी कोई गम्भीर आघात नहीं पहुँचा सकते। उन्हें समीपसे नष्ट करनेवाला शस्त्र चाहिये और परशु तो तब उपयुक्त होता है, जब रथ, गज भी काटने हैं। इस समय तो गदा भी अनुपयोगी है; क्योंकि गदा-युद्ध भी समान योद्धाके साथ शोभा देता है।'

परशुराम कुछ क्षणको मौन हो गये। उन्होंने ध्यान किया। कल्किको करवाल कोई सुर दे सकता है और परशुराम जिसका आह्वान करते, उसे अविलम्ब आना पड़ता; किंतु जब सुयोग्य शिष्यको प्रसाद देना है तो सर्वोत्तम दिया जाना चाहिये।

'वत्स ! यह भगवती महाशक्तिका प्रमुख शस्त्र है। तुम उन असुर-संहारिका सिंहवाहिनी अष्ट भुजा दुर्गाकी आराधना करो ! परशुरामजीने कल्किको महाशक्तिकी आराधना-विधि बतलायी।

कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी, महारात्रिका मध्यकाल। महेन्द्रपर्वतका निविड़ नीरव एकान्त। एकाकी आराधनामें निमग्न कल्कि।

'वत्स ! पराशक्तिको पधारना होता है तो पहले उनके परिकर आते हैं।' परशुरामने सावधान किया था—'वे प्रेत-पिशाचवर्गके हैं। तुम्हें निर्भय रहनेको कहना तो आवश्यक नहीं है, किंतु उत्तेजित मत होना। उन सबका स्वभाव अटपटा है, बहुत विनोदी है। फिर भी वे तुम्हारे समीप नहीं पहुँचेंगे; तुम्हारा स्पर्श तो कर ही नहीं सकते। केवल तुम उनकी क्रियाओंके कारण उनपर क्रोध मत करना।'

यह आदेश आवश्यक था। कल्किा सहज स्वभाव शान्त रहना नहीं था। वे किसी भी समय क्रुद्ध हो सकते थे और किसी भी मन्त्र अथवा दिव्यास्त्रका प्रयोग कर सकते थे। उद्‌दण्डता, उच्छृङ्खलता, अशिष्टताको शान्त सहन कर लेना उन्होंने सीखा नहीं था।

परशुरामजीका आदेश काम आया। कल्कि शान्त रहे, जब अन्धकार-पूर्ण दिशाएँ फूत्कारपूर्ण हो गयीं। जैसे सहस्र-सहस्र महासर्प एक साथ बढ़ते चले आ रहे हों।

कल्कि शान्त रहे, जब पवनसें पूय-गन्ध (दुर्गन्धि) पूर्ण हो गयी और दिशाओंमें स्थान-स्थानपर उल्मुक जलते दीखने लगे।

कल्कि शान्त बने रहे तब भी, जब उनके चारों ओर और सिरके ऊपर भी अद्‌भुत शब्द होने लगे। जैसे धमाके होते हैं, कड़कड़ाता कुछ भारी टूटता जाता है और लक्ष-लक्ष क्रुद्ध प्राणी दाँत कटकटाते टूट पड़नेवाले हैं।

केवल कल्किको तब हँसी आयी, जब उनके चारों ओर केवल दस-बारह अंगुलवाले अद्‌भुत आकृति वामन-वेतालोंका एक बड़ा समूह प्रकट हुआ और मण्डल बनाकर वे नृत्य करते, मुख और हाथ मटकाते विचित्र चेष्टाएँ करने लगे। वे कभी दाँत दिखाते और कभी अँगूठा। कभी दौड़कर समीप आनेकी धमकी देने लगते और कभी भाग जानेका संकेत करके अपने मण्डलके मध्य मार्ग बना देते।

अचानक इन वेतालोंके मण्डलके बाहर असंख्य कङ्काल प्रकट हुए। उत्युच्च नर-कङ्काल। केवल उनके आँखोंके स्थानपर जो गड्ढे थे, उनसे लपटें निकल रही थीं। वे बीच-बीचमें अपने हड्डियोंके हाथोंसे ताली बजाते और अट्टहास करते थे।

कल्किने शीघ्र इस ओरसे दृष्टि हटा ली और वे एकाग्रचित्त जप करनेमें तल्लीन हो गये।

न मांस, न मदिरा और न पूजाका कोई और उपकरण। उस समय कुछ उपलब्ध नहीं था। कुकुंम और पीत सर्षपतक नहीं। केवल कुछ जपा-पुष्प सम्मुख रखे कल्कि जपमें लगे थे।

'देवताओंको और महाशक्तिको भी साधककी सुरक्षित श्रद्धा अपेक्षित होती है। उन्हें सामग्री-सम्भार प्रभावित नहीं करता।' परशुरामजीने पद्धति समझाते समय ही कह दिया था—'समस्त सामग्रियोंके अभावमें श्रद्धालु साधककी प्रणति पर्याप्त होती है।'

'वत्स ! प्रायः शक्तिके कुछ सात्त्विक रूपोंके अतिरिक्त सब बलि माँगते हैं।' परशुरामजीने यहाँ बिना निर्देश किये कह दिया था—'इस सम्बन्धमें मैं तुम्हारी प्रज्ञापर आस्था करता हूँ।'

कल्किके चित्तमें कोई विकल्प नहीं था। पशु या प्राणी-बलिकी बात न भगवान् परशुरामके मनमें आ सकती थी, न कल्किकी वृत्ति इधर गयी। वे अपने जपमें स्थिर बैठे थे।

सहसा वामन वेतालोंके मण्डलके भी भीतर दो लोक भयङ्कर मूर्तियाँ प्रकट हुईं। ऐसी मूर्तियाँ कि उन्हें देखकर सुर भी काँपने लगें। उन्मुक्तकेशा, त्रिलोचना, मुण्डमालिनी, खेट-खर्पर-हस्ता, रक्ताक्तवदना, नृहस्तमेखला, ज्वलदग्निवक्त्रा, खड्ग-सर्पादि आयुधाभरण भगवती भद्रकाली और चामुण्डाको देखकर कल्किने केवल किंचित् मस्तक झुकाकर बैठे-बैठे ही प्रणाम किया।

भद्रकालीके करका अस्थिदण्ड उठा और वामन-वेतालों तथा कङ्कालाकृतियोंका समूह सहसा शान्त हो गया।

चामुण्डाने मुख खोलकर जँभाई ली; ऐसा लगा कि वे त्रिभुवनको एक साथ चबा जानेवाली हैं। वामन-वेताल और कङ्कालाकृतियाँ ऐसी अदृश्य हुईं, जैसे भयके कारण भाग गयी हों।

जिस आतङ्कसे प्रेत-पिशाच भी अदृश्य हो गये, उससे कल्किके शरीरमें किंचित् कम्पन या रोमाञ्च भी नहीं हुआ। वे अपने जपमें स्थिर लगे थे। उन्होंने न नेत्र निमीलित किये और न दूसरी किसी ओर देखा।

इतना घोर शब्द जैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विदीर्ण हो गया हो। अम्बर और दिशाएँ प्रचण्ड प्रकाशसे परिपूर्ण हो गयीं। चामुण्डा और भद्रकाली अत्यन्त शान्त, सतर्ककी भाँति स्थिर खड़ी हो गयीं।

आकाशसे स्वर्णवर्णा दीर्घसटा केशरी ठीक कल्किके सम्मुख उतरा। उसकी पीठपर बैठी अरुणवसना, अष्टभुजाके केवल श्रीचरणोंपर कल्किकी दृष्टि गयी और वे आतुरतापूर्वक जपाके अरुणपुष्प अञ्जलिमें लिए उठ खड़े हुए। भगवतीके चारु चरणोंपर उन्होंने बिना उद्वेग, सादर, सावधानीपूर्वक श्रद्धासहित वे सुमन सर्मपित किये।

'बलि कहाँ है ?' आद्याका गम्भीर स्वर गूँजा। कहना कठिन है कि उसमें रोष था, प्रसाद था या परीक्षण था।

'प्रस्तुत है अम्ब !' कल्कि सहसा अञ्जलि बाँधकर सिर झुकाकर घुटनोंके बल बैठ गये। 'आत्मबलि—अपने अभिमानकी, अस्तित्वकी बलिसे महान् बलि तो कहीं सम्भव नहीं।'

महाशक्ति आद्या सिंहपृष्ठपरसे कूदीं। उनके करका शस्त्र झनझनाकर कल्किके सम्मुख गिर पड़ा। केवल पशुकी—देहासक्त पशुकी बलि सम्भव है। कल्कि तो अविनाशी पशुपति-अमरों की भी बलि शक्य नहीं होती, अविनाशी तो अपना स्वरूप है, उसकी बलि कैसे सम्भव हो सकती है ?

'वत्स ! यह शस्त्र तुम्हारा हुआ।' आद्याने कल्किको अपने करोंसे उठाकर खड़ा किया। स्वयं अपना भूपतित शस्त्र उठाकर कल्किके करोंमें दिया—'यह तुम्हारे भू-भारहरणमें सहायक होकर सार्थक हो।'

कल्किने पुनः भूमिपर मस्तक रखकर प्रणाम किया; किंतु जब मस्तक उठाया तो लगा कि कोई स्वप्न देखकर वे जागे हैं। जो कुछ देखा था, वह स्वप्न नहीं था, इसका प्रमाण केवल वह ज्योतिर्मय करवाल थी, जो अब भी कल्किके दक्षिण करमें थी।

आद्यामहाशक्ति, भद्रकाली या चामुण्डा किसीके आगमनका वहाँ कोई चिह्न नहीं था। कल्किके सम्मुख केवल जपाके कुछ पुष्प बिखरे थे, जो उन्होंने आदिशक्तिके श्रीचरणोंपर अर्पित किये थे।

दिशाओंका अन्धकार धूमिल पड़ने लगा था। कल्किने सुना, भगवान् परशुराम उन्हें पुकार रहे हैं—'वत्स! ब्रह्ममुहूर्त व्यतीत हो जाय, इससे पूर्व ही स्नान करके तुम्हें भगवान् भास्करको अर्घ्य अर्पित करना है।'

कल्किने पुनः भूमिमें मस्तक रखा वहीं अपने सदय समर्थ गुरुको प्रणाम करनेके लिए।

अश्व आया—

अमरपुरी स्वर्गमें सुरोंकी सभा एकत्र हुई। शक्रने ही सुझाया—'धरापर सतयुगकी स्थापनाके लिए कल्किके रूपमें श्रीहरिका अवतरण हुआ है। अवसर आ गया है कि हम उनकी सहायता करें।'

'उनको हमारी सहायताकी अपेक्षा नहीं है।' वरुणदेवने अपने ढंगसे बातकी—'वे सर्वसमर्थ हैं और इस समय तो धरापर जो मनुष्य हैं, वे अत्यल्पशक्ति हैं।'

'यही आशङ्काका कारण है।' देवगुरु वृहस्पति बोले—'असुर यदि इस समय धरापर अधिकार कर लेंगे तो देवताओंकी यज्ञ-भाग पानेकी आशा ही समाप्त हो जायगी। कल्कि समर्थ तो हैं, किंतु पदाति हैं। वे कितने असुरोंसे संघर्ष करेंगे? असुर न भी आवें तो अकेले कल्किको सम्पूर्ण पृथ्वीसे कलियुगका कल्मष स्वच्छ करनेमें बहुत दीर्घकाल लगेगा। अतः उन्हें वाहन दिया जाना चाहिये।'

'देवेन्द्र अपना रथ भेज सकते हैं।' शशिने सुझाव दिया।

'किंतु कल्किने तो शस्त्र-शिक्षणके समय रथ-युद्धके प्रति अभिरुचि ही प्रकट नहीं की। उन्होंने करवाल प्राप्त किया है और यह अस्त्र रथस्थके उपयोगका नहीं है।' देवगुरुको चन्द्रमाका प्रस्ताव उचित नहीं लगा।

'ऐरावत?' देवताओंमेंसे ही किसीने प्रश्न उठाया।

'ऐरावत और उच्चैश्रवा—दोनों हैं ही उनके।' चन्द्रमाको अपने प्रस्तावका प्रतिवाद अच्छा नहीं लगा था। कल्किको वे अपना स्वजन सिद्ध करके गौरवान्वित होना चाहते थे—'सुर कोई उपकार नहीं करेंगे, यदि क्षीरोदधि-मन्थनसे उद्भूत कोई वस्तु वे मन्थन करनेमें जो प्रमुख थे उन्हें अर्पित कर देंगे।'

'निशानाथने उचित स्मरण दिलाया।' देवगुरुने हँसते हुए कहा—'भले कल्कि भार्गव विप्र बनकर अवतीर्ण हुए हों, उन्होंने जब शस्त्रके रूपमें करवाल स्वीकार की है तो अश्व उनके उपयुक्त वाहन है।'

'उच्चैश्रवा उनके समीप जायगा।' सुरेन्द्रने अपनी स्वीकृति दे दी।

उच्चैश्रवा कोई साधारण अश्व तो था नहीं कि उसे पहुँचाने कोई पृथ्वीतक आता। उस क्षीरोदधिसमुद्भव श्वेत अश्वको केवल सुरेन्द्रका आदेश पर्याप्त था। वह श्यामकर्ण दिव्य अमरपुरीसे उसी घड़ी अवनीपर उतरा।

'अश्व आया! अद्भुत अश्व आया।' सम्भलग्राममें कोलाहल हुआ। अभी वहाँके सबलोग कल्किके स्वागतार्थ एकत्र हुए थे। इतनेमें किसीने यह समाचार दिया।

कल्कि जैसे परशुरामजीके पीछे ही आकाशमार्गसे जाकर अदृश्य हो गये थे, वैसे ही आज अकस्मात् अपने पिताके उटजके सम्मुख गगनसे उतरे थे। उन्हें उतरते अनेकोंने देख लिया था। कुछ ही कालमें तो वहाँ सम्पूर्ण सम्भलग्राम एकत्र हो गया था।

कल्किने पिताको, माताको और सब गुरुजनोंको प्रणाम कर लिया था। उन्होंने अपने शस्त्र-शिक्षणका समाचार देकर कहा—'आप सब आशीर्वाद दें कि मैं गुरु-दक्षिणा देनेमें सफल होऊँ।'

'गुरु-दक्षिणा?' एक वृद्धने जिज्ञासा की। गुरु-दक्षिणा दिये बिना तो ब्रह्मचारीका समावर्तन-संस्कार सम्पूर्ण नहीं होता। अभी गुरु-दक्षिणा शेष है, इसका अर्थ है कि कल्कि अभी गृहस्थ होनेकी स्थितिमें नहीं हैं।

कल्कि कुछ महीनोंमें ही लौट आवेंगे, यह किसीको आशा नहीं थी। ब्रह्मचारीको गुरु गृहमें कुछ वर्ष लगा करते हैं। कल्किकी माताके हृदयमें अपने अलौकिक पुत्रके विवाहकी साध स्वाभाविक थी; किन्तु उन्हें बोलनेका अवसर ही नहीं मिला।

'भगवान् परशुरामने गुरु-दक्षिणामें मुझे भू-भार-हरणका भार अर्पित किया है ।' कल्किके इस उत्तरने सबको स्तब्ध कर दिया । जिन कन्याओंके पितावर्गने कुछ सोचा भी था, वे भी मौन रह गये । भूमिका विस्तार क्या थोड़ा है कि भू-भार-हरण शीघ्र सम्पन्न होगा ।

'वत्स ! हममें किसीको अनुमान नहीं कि भूमिकी सीमा कितनी बड़ी है ।' विष्णुयशजीने ही कहा—'तुम्हें भगवान् परशुरामने तुम्हारे दायित्वकी कोई देश-सीमा सूचित की है ?'

'नहीं' कल्किने स्पष्ट कहा—'मैं समझता हूँ कि सम्पूर्ण धराही उनके ध्यानमें होगी ।'

'इतनी व्यापक यात्रा तुम पैदल चलकर तो अनेक वर्षोंमें भी पूरी नहीं कर सकते ।' एक वृद्धने शङ्काकी—'फिर तुम्हें केवल पर्यटन नहीं करना है । संघर्ष करना है और हम सबने सुना है कि हमारे क्षेत्रसे बाहर अत्यन्त क्रूर वामन लोगोंका निवास है । वे असंख्य हो सकते हैं ।'

'उन सबसे शत्रुता करके उनका संहार क्या ब्राह्मणकुमारके उपयुक्त होगा ?' विष्णुयशजीने बहुत क्षुब्ध स्वरमें कहा ।

'पितः ! मैं किसीपर आक्रमण नहीं करूँगा ।' कल्किने आश्वासन दिया—'किंतु आक्रान्ता आततायीको क्षमा नहीं किया जाना चाहिये ।'

'नहीं, जो तुमपर आक्रमण करें, उनका तुम संहार करनेको स्वतन्त्र हो ।' कई वृद्ध एक साथ बोले–'हम-सब अनेक समयसे आशङ्काकी स्थितिमें जीवित हैं । हम अपने ग्रामकी सीमामें बंदीप्राय हैं । महाभाग विष्णुयशजी एक दिन सीमासे बाहर गये तो उन बर्बरोंने अकारण इनपर आक्रमण किया । इनपर आघात किया । अन्ततः तुमने शस्त्र-शिक्षण प्राप्त किया है । तुम हमारे संरक्षक बनो ! आततायीका संहार पाप नहीं है ।'

सबके भीतर जो आशङ्का, आक्रोश था, वह मुखरित हो उठा था । विष्णुयशजीके मनसें भी यह आक्रोश तो था ही । उन्हें लगा कि उनके अन्तरका आक्रोश ही पुत्रके रूपमें प्रकट हुआ है ।

इसी समय कोलाहल हुआ—'अश्व आया ! अद्भुत अश्व आया ।'

अभीतक तो कल्किने और दूसरोंने भी यही समझा था कि कल्किको अपनी सिद्धिका आश्रय लेकर आकाशमार्गसे पृथ्वीका चक्कर लगाना पड़ेगा, किंतु तब भू-भार-हरणका कार्य कठिन नहीं हो जायगा ?' कल्कि कहीं भी बर्बरोंके मध्य गगनसे उतरें भी तो वे बर्बर उनपर आक्रमण करेंगे या उनकी पूजा करने लगेंगे, यह कौन कह सकता है। कल्कि स्वयं इस समस्यापर अभीतक सोच नहीं सके थे।

असाधारण ऊँचा अश्व एक ओरसे चलता आया। यद्यपि सम्भलग्रामके लोग आकारमें छोटे नहीं थे और अबतक वे उच्च प्रलम्बकाय महर्षि दीप्तिमान् तथा परशुरामजीके सम्पर्कमें भी आ चुके थे, किंतु अश्व इतना ऊँचा था कि केवल परशुरामजीके ही आरूढ़ होनेयोग्य कहा जा सके।

उस अश्वसे जैसे कान्ति छिटकरही थी। लेकिन वह इतना दुर्धर्ष था कि उसके समीप जानेका साहस कोई नहीं कर सकता था। उसका स्पर्श करनेकी इच्छा तो कोई कैसे कर सकता था। उसे आते देखकर लोगोंमें भगदड़ मच गयी।

'वत्स ! उटजके भीतर आ जाओ !' व्याकुल होकर कल्किकी माताने पुकारा।

अश्व साधारणगतिसे ही चलता आ रहा था। उसने न हेषा-ध्वनि की और न खुर मारे पृथ्वीपर। लोग उसकी कान्ति और भारी कायाके कारण ही आतङ्कग्रस्त होकर भागे थे। सम्भलग्रामके लोगोंको भयभीत होते प्रथमबार देखा गया था। वैसे उन धर्मिष्ठ विप्रोंमें शरीर-मोह नहीं था। आकस्मिक भयसे वे भागे सही, किंतु शीघ्र स्थिर हो गये और कुछ लौट भी पड़े।

'भगवान् हयग्रीव तो नहीं पधारे ?' एक वृद्धने शङ्का की और फिर तो सम्पूर्ण ब्राह्मण-समुदाय आतुरतापूर्वक अर्घ्य लेकर लौट आया। वे सस्वर श्रुति-मन्त्रोंसे स्तवन करने लगे।

केवल कल्कि अबतक अविचल खड़े रहे थे। वे अश्वकी ओर ही देख रहे थे। वे न भयभीत ही हुए थे और न श्रद्धाभिभूत ही। अश्व भी सीधे उनके समीप आया और सम्मुख आकर उसने अपने अगले दाहिने पदसे तीन बार धीरेसे धरतीको खटखटाकर मस्तक झुका दिया। यह अश्वने अपने ढंगसे अभिवादन किया था।

वह चन्द्रशुक्ल श्यामकर्ण अत्युच्च अश्व इस प्रकार कल्किके सम्मुख खड़ा हो गया, जैसे सदा-से उनसे परिचित हो और आशा कर रहा हो कि कल्कि अब कम-से-कम उसकी गर्दन सहलायेंगे।

सचमुच अश्वको सिर झुकाये देखकर कल्कि उसके समीप आ गये। उन्होंने अश्वके पार्श्वमें आकर उसकी गर्दन थपथपायी। अश्वने अब प्रसन्नतापूर्वक हेषा-ध्वनि की।

सम्भलग्रामके लोगोंका समूह भी अबतक श्रद्धाके उद्रेकसे उबर गया था। वे लोग भी और समीप सिमट आये। उन्होंने अब कुछ आश्चर्य और कुछ कुतूहलपूर्वक अश्वको देखा।

'यह अतिथि है, अतः आहार मिलना चाहिये इसे।' सबसे पहले विष्णुयशजी ही सचेत हुए। उनकी बात सुनकर कल्किकी माता उटजमें चली गयीं। उनके समीप कुछ गुड़ है, यह उन्हें स्मरण आ गया। कल ही कोई श्रद्धालु वैश्य दे गया था।

अश्वत्थामाका आगमन-

आजका दिन सम्भलग्रामके लिए अत्यन्त महत्त्वका दिन बन गया। ऐसे महत्त्वका ऐतिहासिक दिन कि उसे सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यके दिनका कोई विशेषण देना सम्भव नहीं है।

आज ही शिक्षण-समाप्त करके कल्कि लौटे थे। आज ही अद्भुत अश्व आया था उनके समीप और आज ही वे सम्भलग्रामसे सदाके लिए चले भी गये थे। वे अपनी भू-भार-हरण-यात्रापर आज ही निकले तो फिर लौटकर आये ही नहीं थे।

अभी अश्वका सत्कार भी नहीं हुआ था कि दो जटा-श्मश्रुधारी प्रचण्डकाय पुरुष अचानक आ गये। दोनों धनुर्धर थे, किंतु दोनों त्रिपुण्डधारी और शान्त लगते थे। उनमें जो वृद्ध थे, उन्होंने स्वयं परिचय दिया—'मैं द्वापरमें उत्पन्न शरद्वान ऋषिका पुत्र कृप हूँ और नेरे साथ ये मेरे भागिनेय द्रोणपुत्र अश्वत्थामा हैं।'

'भगवन्, यह अश्व आपका है?' अर्घ्य देकर, अभिवादन, अर्चनके अनन्तर जब दोनों अतिथियोंने आसन-ग्रहण कर लिया, आहार स्वीकार कर लिया, तब कल्किने उनसे पूछा।

अश्वत्थामा आसनसे उठे। उन्होंने अश्वकी प्रदक्षिणा की। अच्छी प्रकार उसका निरीक्षण किया। इसके पश्चात् कल्किसे बोले—'यह अश्व सम्भवतः सुरोंने तुम्हारे लिये भेजा है।'

अश्वने हिनहिनाकर, सिर हिलाकर प्रसन्नता प्रकट की। जैसे वह अपनी स्वीकृति सूचित कर रहा हो।

'मैंने महाभारतके युद्धमें अर्जुनके रथके अलौकिक अश्व देखे हैं। श्रीकृष्णके गरुड़ध्वज रथके अश्व ही इस अश्वकी समता कर सकते हैं।' अश्वत्थामाने कहा—'पृथ्वीपर कोई पार्थिव अश्व इस प्रकारका होना सम्भव नहीं है। यह दिव्य अश्व सहज अशङ्क है और सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे युक्त

है। अवश्य ही इसे सब अस्त्र-शस्त्रोंसे अवध्य होना चाहिये। इसपर कहीं किसी आघातका कोई चिह्न नहीं है।'

अश्वने फिर हींसकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की। साथ ही वह अपनी टापसे पृथ्वी खोदने लगा। इसका अर्थ था कि वह चाहता था कि उसपर शीघ्र आरोहण किया जाय। वह यात्रा करनेको उत्सुक था।

'हम आपकी क्या सेवा करें ?' सम्भलग्रामके एक वृद्धने विनयपूर्वक पूछा।

'वत्स कल्किको अब अश्वपर आरूढ़ होकर अपना कार्यारम्भ करना चाहिये।' कृपाचार्यजीने कहा—'हम दोनों इनकी सहायताके लिए आये हैं।'

'कल्कि इतना अशिष्ट कैसे हो सकता है कि आप गुरुजन पदाति रहें और यह अश्व स्वीकार करे।' श्रीविष्णुयशाजीने आपत्ति की।

'भू-भारके हरणका मुख्यकार्य कल्किको करना है।' कृपाचार्यने कहा—'अतः इस कार्यका नेतृत्व वहीं करेंगे। हम-दोनों उस क्षेत्रमें वह कार्य करेंगे, जिसका यह हमें निर्देश करेंगे।'

'मैंने देखा ही नहीं है कि पृथ्वी कितनी बड़ी है और इसके कितने विभाग हैं।' कल्किने बहुत भोलेपनसे कह दिया—'मैं तो पहले पवित्र भारत भूमिको निष्कलुष करनेके लिए इसका भ्रमण करना चाहता था।'

'ठीक है, मैं भारतसे भिन्न बर्बर-प्रदेशोंमें-से कार्यारम्भ करता हूँ।' अश्वत्थामाने कहा—'भारतसे पश्चिम सागरके उस पारके प्रदेशोंकी चिन्ता कल्किको नहीं करनी पड़ेगी।'

'आचार्य आप ?' कृपाचार्यजीकी ओर कल्किने देखा।

'वत्स ! मैं महाभारतके युद्धके पश्चात् ही शस्त्र-न्यास कर चुका। मैं तो अपने इस भागिनेयके स्नेहवश इसके साथ हूँ। इसे सँभालने और संयत रखनेकी आवश्यकता है।'

'कल्कि, मेरे अन्तरमें जो घृणा और क्रोधका बड़वानल प्रज्वलित है, उसका तुम अनुमान नहीं कर सकते।' अश्वत्थामाने स्वयं कहा।

'कुछ कारण होगा ?' चौंककर विष्णुयशजीने पूछा।

'कारण—कारण सुनोगे ?' अश्वत्थामाके नेत्र अङ्गार हुए–'महाभारत-युद्धके पश्चात् अर्जुनने मेरी सुरासुरदुर्लभ शिरोमणि भी छीन ली। मेरे श्मश्रु-केश काटकर, मुझे विरूप बनाकर धक्का देकर निकाल दिया अपने शिविरसे और जब मैंने इसका प्रतीकार करनेका प्रयत्न किया, श्रीकृष्णने उसे व्यर्थ बना दिया। उलटे मुझे शाप दे दिया। सर्वाङ्गमें गलितकुष्ठ लिए मैं पाँच सहस्र वर्ष एकाकी प्रेतके समान प्राणिहीन प्रदेशोंमें भटकता फिरा उस शापसे विवश। मुझे मनुष्योंसे, प्राणियोंसे घृणा है। मैं सबको विनष्ट कर दूँगा।'

अश्वत्थामाको कोई पश्चात्ताप नहीं था कि उसने द्रौपदीके पाँच पुत्र मारे थे। उसे कोई खेद नहीं था कि उसने सोते असावधान लोगोंका संहार किया था। उसे उत्तराके गर्भपर ब्रह्मशिरास्त्रके प्रयोगका भी दुःख नहीं था। अपना कोई अपराध, कोई पाप उसकी दृष्टिमें नहीं था। वह क्रुद्ध था उस दण्डसे जो उसे प्राप्त हुआ था।

अश्वत्थामाकी अवस्था यह सोचनेके लिए सबको विवश करती है कि दण्डसे अपराधका परिमार्जन नहीं होता। दण्ड भले प्रतिशोध बनकर उत्पीड़ितको परितुष्ट करता हो और आतङ्क-प्रसारके द्वारा दूसरोंको अपराध करनेसे रोकता हो, किंतु उससे अपराधीका सुधार सम्भव नहीं है।

अपराधका परिमार्जन है—पश्चात्ताप ! जब अपराधीको स्वयं अपने कर्ममें अपराधकी अनुभूति हो और उसके मनमें पश्चात्ताप जागे, तब उसका सुधार होता है। पश्चात्तापसे पुनीत और परम-परिशोधक इसका कोई प्रायश्चित नहीं है।

'वत्स ! हम-दोनों अमर हैं। भगवान् आशुतोषके अनुग्रहने हमें कल्पान्तजीवी कर दिया है।' कृपाचार्यने शिथिल स्वरमें कहा—'आचार्य द्रोणने पुत्रके मोहवश तप करके इनको अमरत्वका आशीर्वाद दिलाया और

जितने अमोध दिव्यास्त्र उनके समीप थे, सब अपने पुत्रको प्रदान किये। तुम समझ सकते हो कि ऐसी स्थितिमें अश्वत्थामाको सँभालना कितना आवश्यक है।'

जो अमर है, जिसे मारा जा नहीं सकता और उसके पास सम्पूर्ण पृथ्वीको नष्ट-भ्रष्ट करनेमें सक्षम दिव्यास्त्र हैं, वह मर्यादा मानता ही नहीं, घृणा और क्रोधकी अग्निमें जल रहा है, वह कब क्या अनर्थ कर बैठेगा, इसका क्या ठिकाना। अश्वत्थामा अपने मातुलको मानता है, उनकी वाणीका सम्मान करता है, यही सौभाग्यकी—संसारके कुशलकीबात थी।

'दीर्घकालतक अत्यन्त घृणित रोगसे ग्रस्त और नितान्त एकाकी, उपेक्षित, सेवा-वर्जित रहनेके कारण मेरे ये भागिनेय बहुत असहिष्णु-चिड़चिड़े हो गये हैं।' कृपाचार्यने खेदभरे स्वरमें कहा—'अतः मुझे इनके साथ ही रहना चाहिये। शापकी अवधि समाप्त होनेपर मैंने इन्हें कठिनाईसे अन्वेषण करके पाया। अब तुम हम दोनोंको अनुमति दो!'

'ये दोनों अमित पराक्रम, दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता और आगामी मन्वन्तरके सप्तर्षि!' कल्कि सिर झुकाकर सोचने लगे थे। कृपाचार्य तो ठीक हैं, किंतु अश्वत्थामाको सप्तर्षि होनेमें तो अभीं भी बहुत समय लगता दीखता था। उन्हें पहले शान्त होना चाहिये। लेकिन अश्वत्थामाको शान्त करनेका कोई उपाय कल्किको भी सूझता नहीं था।

बहुत समर्थ, किंतु बहुत नटखट है सृष्टिका संचालक। उसकी अटपटी योजनाएँ किसीकी भी समझमें नहीं आतीं। वह विष और कण्टकका सृजन करके उन्हें भी उपयोगमें ले लेता है। अश्वत्थामाकी घृणा और क्रोधका भी उसने उपयोग किया और उपयोगने ही पश्चात्तापकी अग्नि उत्पन्न करके इतने क्रूर, कठोर आचार्यपुत्रको शुद्ध स्वर्ण-ऋषि बना दिया। यह आगे स्पष्ट हो जायगा।

'वत्स! तुम संकोच मत करो!' अश्वत्थामाने आश्वासन दिया—'मैं भारतमें कुछ नहीं करूँगा। तुम स्वयं इस देवभूमिको स्वच्छ करो। हम-दोनोंको वाहनकी अपेक्षा नहीं है। हम गगनपथसे अपने कार्यक्षेत्रमें

पहुँच रहे हैं। वैसे भी समुद्रको वर्तमान किसी वाहनसे पार नहीं किया जा सकता।'

अश्वत्थामाके आश्वासनने सम्भलग्रामके विप्रोंको संतुष्ट किया। समुद्रके उस पार भी कोई जनपद हैं, ऐसी कोई स्पष्ट धारणा उनकी नहीं थी। वे समझते थे कि सुर अथवा असुर होंगे पृथ्वीके अन्य भागोंमें और वे समर्थ होंगे अपनी रक्षा करनेमें। अश्वत्थामा अमर हैं, अतः उनके लिए आशङ्काका कारण है ही नहीं।

सबने सादर प्रणाम किया। कृपाचार्य और अश्वत्थामाने भी कल्किको हृदयसे लगाकर उन्हें विजयी होनेका आशीर्वाद दिया। दोनों ही महापुरुष वहाँ सबके सम्मुख ही गगनमें उठे और पश्चिम क्षितिजके पीछे अदृश्य हो गये।

दोनोंके जानेके पश्चात् अश्व फिर हिनहिनाया। अबतक जैसे सब उसे भूल ही गये थे। अब कल्किने माता-पिता तथा सब गुरुजनोंके पदोंमें प्रणाम किया। सबसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'आप-सब मुझे अनुमति दें!'

ब्राह्मणोंने स्वस्तिपाठ किया। वृक्षोंने भी पुष्पवर्षा की। कल्किने फिर सबको मस्तक झुकाया और अश्वकी प्रदक्षिणा की। इसके अनन्तर वे कूदकर अश्वकी नंगी पीठपर ही आरूढ़ हो गये।

अश्वने सिर उठाया और दौड़नेके स्थानपर वह भी आकाशमें ऊपर उठा। सबने कल्किको भी आकाशमें ऊपर अदृश्य होते ही देखा।

संहार ! संहार !! संहार !!!

■ 'अद्‌भुत पशु अत्युच्च श्वेतवर्ण और उसकी पीठपर एक महाकाय मनुष्य अथवा असुर बैठा है। वह अपने जनपदकी ओर ही आ रहा है।' कल्किका अश्व एक बड़े जनपदके पार्श्वमें उतरा तो वहाँके कई लोगोंने दौड़कर अपने राजाको समाचार दिया।

दुर्बल और कायर व्यक्ति भयभीत होता है और अकारण आक्रमण करता है। उन लोगोंने न अश्व देखा था और न अश्वारोहीकी कोई कल्पना इनके मनमें थी। उन बौने लोगोंके लिए तो अश्व पूरा पर्वत-जैसा था और कल्किका आकार भी अकल्पनीय बड़ा था। अतः वे भी उन्हें असुर ही लगे थे।

'वह अपनेपर आक्रमण करने आ रहा है।' वहाँके राजाने तत्काल निश्चय कर लिया। वह स्वयं आततायी दस्यु था। पड़ोसी जनपदोंको प्रायः आक्रान्त करता रहता था। इस प्रकार उसने बहुत-से दास बनाये थे। अतः उसे लगा कि अश्वारोही आक्रामणकारी ही है।

'वह अकेला है, किंतु बहुत बड़ा है।' समाचार देनेवाले भयाक्रान्त थे।

'उसे सब ओरसे घेर लो और मार डालो।' उस राजाने अपने सैनिकोंको आज्ञा दी। जितने भी दास उसके पास थे, सब साथ लिये और आक्रमणका नेतृत्व करने आगे बढ़ा।

कल्किको बौनोंका यह कोलाहल ऐसा ही लगा, जैसे बहुत-सी

■ अश्वमाशुगमारुह्य देवदत्तं जगत्पतिः।
असिनासाधुदमनमष्टैश्वर्य गुणान्वितः॥
विचरन्नाशुनाक्षोण्यां हयेनाप्रतिमद्युतिः।
नृपलिङ्गच्छदो दस्यून् कोटिशोनिहनिष्यति॥

—भागवत १२।२।१९-२०

मक्खियाँ भनभनाकर कहीं उड़ने लगी हों। उन बर्बरोंकी भाषा वे जानते नहीं थे। अतः क्यों उद्विग्न होकर ये बौने भाग-दौड़ कर रहे हैं, यह समझनेमें भी उन्हें समय लगा। वे पहले यही समझते थे कि कुतूहलके कारण ये सब उनको और उनके अश्वको देखने दौड़ पड़े हैं।

बौनोंके द्वारा कल्कि घेरे जा रहे हैं, इसपर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। उनको तो तब इस आक्रमणका पता लगा, जब चारों ओरसे उनपर धड़ाधड़ पाषाण और डण्डे गिरने लगे। वैसे बौनोंद्वारा फेंके गये इन पत्थरोंका वेग भी इतना नहीं था कि कल्किको कोई गम्भीर चोट आती, किंतु इससे उन्हें क्रोध आ गया—'ये आततायी अकारण आघात कर रहे हैं।'

कल्किने कटिवस्त्रमें अबतक लटकती करवाल हाथमें ले ली। अश्व पहले ही पत्थरों के आघातसे भड़क गया था और बौनोंको कुचलने लगा था। कल्कि कुछ आगेकी ओर झुक गये और उनकी करवालने मूलीके समान उन मनुष्योंको काटना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार भू-भार-हरणका श्रीगणेश कल्किने किया। अब उन्होंने देखा ही नहीं कि उनका हाथ कितनोंको काट रहा है और उनका अश्व कितनोंको कुचल रहा है। कितने दस्यु मारे गये और कितने अधमरे कुचले बने, कितने भाग खड़े हुए, यह कुछ कल्किने नहीं देखा।

अश्वकी गति अकल्पनीय तीव्र थी। वह अबाध दौड़ रहा था। कल्किने उसे दौड़नेको स्वच्छन्द छोड़ दिया था। कल्किमें यदि अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा आदि अष्टैश्वर्य थे तो अश्व देवदत्त दिव्य था। उसे भी पृथ्वीपर ही दौड़नेकी कोई विवशता नहीं थी। अश्व और आरोही-दोनोंमें किसीको भूख-प्यास अथवा थकावटका अनुभव होनेवाला नहीं था। अतः उनका संहार-कार्य अबाध चलता गया। केवल रात्रिमें कल्कि कहीं भी रुकते थे और प्रातः स्नान करके चल देते थे।

कल्किको अपनी ओरसे कहीं आक्रमण नहीं करना पड़ा। आतङ्क बढ़ता गया उनका और दस्युओंके दल उनपर आकमण करते गये। वे दस्यु अनेक स्थानोंपर संगठित हुए। अनेक परस्पर शत्रु राजाओंने शीघ्रतामें

संधि करके सम्मिलित आक्रमण किये, किंतु कल्किके लिए तो केवल उन्हें काटनेका कार्य था, जैसे किसान पकी फसल काटता है ।

कल्कि काटते चले गये । उन्होंने अपनेको अश्वपर छोड़ दिया था कि वह उन्हें कहाँ ले जायगा । अश्व कभी दौड़ता था और कभी आकाशमें उठ जाता था। वह कल्किको केवल सूर्यास्तके समय किसी स्वच्छजला सरिता या सरोवरके समीप उतारता था। कल्कि स्नान करते थे, संध्या करते थे और अश्व भी स्नान करता था। दिनभरका रुधिरात्त शरीर स्वच्छ होता था ।

प्रतिदिन कल्किके समीप कामधेनु कहाँसे आ जाती थी और सुपक्व फल कैसे प्रस्तुत मिलते थे, इसपर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया । वे गोदुग्ध और फल लेकर पृथ्वीपर ही रात्रिके समय शयन करते थे। अश्व तृण चर लेता था । उसे तो बैठना जैसे आता ही नहीं था। प्रातः स्नान-संध्या करके कल्कि अश्वारूढ़ होते अपनी रक्तारुण करवाल लिये तो अश्व उन्हें किसी जनपदके पास पहुँचा देता । प्रतिदिन यही क्रम प्रारम्भ होता और अविराम सायंकालतक चलता रहता ।

अश्वत्थामाके साथ दूसरा क्रम चला । कृपाचार्यके साथ वे वहाँ उतरे थे, जहाँ आज अफ्रिकाका पूर्वीतट है। वहाँके बर्बर वामनोंने जब दो प्रचण्डकाय पुरुषोंको देखा तो उनमें भी आतङ्क फैला—'दो असुर आ गये !'

उन्होंने भी आक्रमण ही किया, किंतु अश्वत्थामा पहले पाषाण-खण्डके लगते ही क्रुद्ध हो गये—'ये खर्वकाय अधम बौने उनका अपमान करते हैं ?'

अश्वत्थामाको आघात बड़ा नहीं लगा था; किंतु अपमान-बोधसे वे क्षुब्ध हो उठे थे । उन्होंने कंधेसे धनुष उतारा और उसे ज्यासज्ज कर लिया । धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर अश्वत्थामा सम्मुखके बौनोंको साधारण वाणोंसे विद्ध करना ही चाहते थे, किंतु धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ानेके अन्तरमें तो अनेक पाषाण-खण्ड पड़े उनपर । चारों ओर बौनोंका समूह उन्हें घेरकर प्रहार कर रहा था ।

'ये अकारण आक्रमण करनेवाले असभ्य आततायी !' अश्वत्थामाको अवज्ञा सहनेका अभ्यास नहीं था। द्वापरमें शत्रुपक्षीय पाण्डव और श्रीकृष्ण भी उन्हें प्रणाम ही करते थे। अपरिचित ब्राह्मणका सभी अभिवादन करेंगे, यह आशा थी उन्हें और यहाँ उनपर तब आक्रमण हुआ, जब उन्होंने इन बौनोंका कोई अपकार नहीं किया था। धनुषतक कंधेसे उतारकर करोंमें नहीं लिया था।

बौनोंकी भीड़ बढ़ती जा रही थी और कोलाहल कर रही थी। भले उनकी भाषा अश्वत्थामाने नहीं समझी, किंतु उन सबोंकी चेष्टा, भावभंगीसे स्पष्ट था कि वे कुवाच्य कह रहे थे। गालियाँ दे रहे थे।

इस सबसे अत्यन्त क्रुद्ध होकर अश्वत्थामाने सीधे आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया। कृपाचार्यको अपने भागिनेयको रोकने या उससे कुछ कहनेका अवकाश ही नहीं मिला। बौनोंके फेंके पत्थर ही नहीं, डण्डे भी लगे थे कृपाचार्यको। वे भौंचक्के रह गये थे—यह कैसा व्यवहार !

कुशल हुई कि अश्वत्थामाने दिव्यास्त्र प्रयोग बिना किसी संकल्पके नहीं किया। ऐसा करते तो वहाँ प्रलय ही हो जाती। उन्होंने संकल्प किया—'इस महाद्वीपके सब बर्बर मनुष्योंको भस्म कर दो !'

कहने और लिखनेमें बहुत समय लगता है; किंतु होलीकी प्रज्वलित अग्निमें जब नन्हा पतंग पड़ता है, पता लगता है कि उसे भस्म होनेमें क्षणका कौन-अंश लगा ?

सम्मुखके बौनोंकी तो दो मुट्ठी भस्म भी देखी नहीं जा सकती थी। अवश्य ही उस अस्त्राग्निने वृक्षों, तृणों और दूसरे प्राणियोंको कोई ताप नहीं पहुँचाया था।

'वत्स !' स्तब्ध कृपाचायने अश्वत्थामाके कंधेपर कर रखा, तब भी अश्वत्थामाका क्रोध शान्त नहीं हुआ था। उन्होंने अपने सम्मान्य मातुलसे केवल इतना कहा—'अब इस महाद्वीपमें इन बबरोंका वंश भी नहीं बचा है। ये जीवित रखनेयोग्य नहीं थे; किंतु हमको दूसरे द्वीप भी देख लेने चाहिये।'

कल्किने भारत-भूमिकी स्वच्छता स्वयं करना स्वीकार किया था। अश्वत्थामा और कृपाचार्यने भारतको छोड़कर पृथ्वीके अन्य प्रदेशोंकी यात्रा प्रारम्भ की।

मनुष्यका दुर्भाग्य—कहीं भी इन पूजनीय तेजस्वियोंको इस योग्य भी नहीं समझा गया कि इनके समीप किसीको भेजकर शान्तिपूर्वक इनका परिचय और इनके आगमनका उद्‌देश्य पूछा जाता। इनके आश्चर्यजनक विशाल आकारको ही आतङ्कका कारण मान लिया और सब-कहीं इनपर आक्रमण ही हुए।

'वत्स ! इस नर-हत्यासे हम उपरत हों !' खिन्न कृपाचार्यने अश्वत्थामाको रोकनेकी चेष्टा की।

'मैं इन अधम मनुष्योंसे पृथ्वीको स्वच्छ कर दूँगा।' अश्वत्थामाका क्रोध भड़कता ही गया। वे दिव्यास्त्र-प्रयोगमें मनुष्योंके साथ बर्बर विशेषण लगाना भी विस्मृत हो गये। फलतः पृथ्वीके अन्य स्थानोंके सुरक्षित क्षेत्रोंके सत्पुरुष भी भस्म हो गये।

'त्राहि ! त्राहि !!' अश्वत्थामाका रोष तब शान्त हुआ, जब अकस्मात् वे सुरक्षित क्षेत्रके सात्त्विकजनोंके समीप पहुँचे। उनके पदोंपर ही एक दौड़ती नारीने गिरकर प्राणत्याग किया। उन्होंने अस्त्रका उपशम किया; किंतु तबतक प्रायः पूरी पृथ्वीके (भारतके अतिरिक्त) मनुष्य भस्म हो चुके थे।

सुर-साथी–

अधिक बड़े परिवर्तन पृथ्वीपर सुरोंके सक्रिय हुए बिना नहीं हुआ करते; क्योंकि पदार्थ और घटनाओंके अधिदेवता होते हैं, जो उनके साक्षी ही नहीं, संचालक भी होते हैं।

कल्किको केवल अश्व देकर ही देवता तटस्थ नहीं हो गये थे—वे उनको प्रतिदिन फल और दूध भी अप्रत्यक्ष रहते दे रहे थे। अतीतमें जैसे उनके कोपसे कीटाणु उत्पन्न हुए थे और उन्होंने समुद्र तथा धरापर फैले रासायनिक कूड़ेको भक्षण कर लिया था, वैसे ही फिर सुरोंकी प्रेरणासे रोगाणु उत्पन्न हुए। उन्होंने महामारीका रूप धारण कर लिया।

आप इस बातको यों भी कह सकते हैं कि कल्कि जो महासंहार करते घूम रहे थे, उनकी समर-भूमिकी सड़ाँधसे रोग उत्पन्न हुए। अन्ततः प्रत्येक महामारी किसी-न-किसी महायुद्धसे ही उत्पन्न हुई है।

कल्कि जिस जनपदको ध्वस्त करते निकल जाते थे, वहाँकी भूमि कटे अङ्ग अथवा अश्वके द्वारा कुचले गये अधमरोंसे भर जाती थी। स्त्रियाँ, बच्चे और दूसरे बचे लोग आतङ्कके कारण घरोंमें—उस समय तो झोंपड़े ही घर थे, उनमें—छिप जाते थे या समीपके जंगलोंमें भाग जाते थे।

उस समराङ्गणको स्वच्छ कौन करता ? बहुत थोड़े आहत होते, जो किसी प्रकार घिसटते हुए पानीतक पहुँच पाते थे। उनमें कुछ बच जाते थे। अधिकांश आहत भी तड़पकर मर जाते थे। उन्हें कौन पानी भी पिलाने आता।

उस समयतक गीध, कौए, शृगाल बहुत नहीं बढ़े थे। कभी भी इनकी संख्या इतनी नहीं होती कि किसी युद्ध भूमिको शीघ्र स्वच्छ कर सकें। उस समय तो हिंसक, मांसाहारी सब पशुओंमें भी एक विचित्र प्रवृत्ति भड़क उठी। जैसे कल्किका क्रोध उनमें भी प्रतिफलित हुआ। वे सजीव—हिलते-डोलते मनुष्योंपर आक्रमण करने लगे।

कल्कि स्त्रियों और वृद्धोंको, बालकोंको सर्वत्र छोड़ते गये थे; किंतु उनमें जो वनमें भागे, वे पशुओंके द्वारा भक्षण कर लिये गये। जो घरोंमें छिपे रह गये, उनमें अधिकांश शवोंकी सड़ाँधसे उत्पन्न महामारीसे मर गये।

सम्पूर्ण देशमें वह महामारी फैली थी। अवश्य ही ऐसी महामारी, जो अल्पकाय, अल्पप्राण लोगोंको ही मारती थी। किसी भी महामारीके कीटाणु स्वस्थ-सबल व्यक्तिको प्रभावित नहीं करते। उलटे वे सक्षम शरीरमें रोगाणु-प्रतिरोधी रक्त ही उत्पन्न करते हैं। इससे वह व्यक्ति उस रोगसे अधिक सुरक्षित हो जाता है। सभी महामारियोंके टीके इसी सिद्धान्तपर निर्मित होते हैं।

कल्किके महासंहारको सुरोंकी सहायता महामारीके रूपमें मिली। इसका फल हुआ कि कल्किने जिन्हें अवध्य मानकर छोड़ दिया, उनमें बहुत अधिक महामारीके मुखमें चले गये।

उस समय चिकित्सा-व्यवस्था तो थी नहीं; उन असंस्कृत अपठित बर्बर लोगोंमें जो उपचार प्रचलित भी थे, वे महामारीके सम्मुख अपर्याप्त सिद्ध हुए। उनकी असंख्य बस्तियाँ जनहीन हो गयीं।

सुरोंने केवल ध्वंसात्मक सहायता ही नहीं दी, उन्हें सतयुगके आगमनयोग्य भी भूमिको बनाना था। इस अत्यधिक विनाशने—कहिये कि मनुष्यरक्त एवं सड़ते मांसादिने पृथ्वीको अत्यन्त उर्वरा बना दिया।

नाक-भौं सिकोड़ना हो तो आप भले सिकोड़ें; किंतु सत्य यह है कि मनुष्य-रक्त अत्यन्त पवित्र वस्तु है। पापी हैं वे, जो उसे व्यर्थ बहाते हैं। भगवती महाकालीका खप्पर उसीसे भरता है। कुरुक्षेत्र और प्रभास महासंहारमें सिंचित मनुष्य-रक्तसे ही तीर्थ बने हैं। चित्तौड़का दुर्ग इसीलिये तीर्थ कि सतियोंने वहाँ अपने पवित्र शरीरकी स्वयं आहुति दी। सुर भी मनुष्य-रक्तसे सिंचित धराकी अवज्ञा नहीं कर पाते। कल्कि भारत-भूमिको उसी रक्तसे सींचकर तीर्थ बना रहे थे।

आचार्यद्रोणके अमरपुत्र, आगामी मन्वन्तरके सप्तर्षि-मण्डलके सदस्य एवं धनुर्वेद तथा शस्त्र-शिक्षणके संरक्षक अश्वत्थामाने सम्पूर्ण पृथ्वीको ही

प्राय: चिताभस्मपूरित कर दिया था। यह चिताभस्म भी अपवित्र नहीं। भगवान् धूर्जटि उसे अपने श्रीअङ्गमें धारण करते हैं। अनजानमें ही अश्वत्थामाके प्रयत्नसे पृथ्वी शिव-भूमि होकर उर्बरा हो गयी थी। उनके अस्त्रके असह्य तापने बहुत अधिक स्थानोंपर, जहाँ पहले जनपद थे, वहाँ भूमिको संतप्त करके उसमें अनेक धातुएँ उत्पन्न कर दी थी।

अनेक बड़े भूकम्प आये। फल यह हुआ कि पृथ्वीमें बड़े परिवर्तन भी हुए। बहुत-से पर्वत पूरे उभड़े और आकाशमें सिर उठाये शोभित हो गये। हिमपातने उनका मस्तक मुकुट-मण्डित किया तो उनसे समुद्भूता सरिताओंने उर्वीको सिंचित करके उर्बरा कर दिया।

जैसे कृषक संचित बीज समयपर बोता-बिखेरता है, ऐसे ही समय आ गया था कि पृथ्वीपर प्रकृतिने जो सुरक्षित स्थल बनाये थे, उनके लोग वहाँसे निकलें और पृथ्वीपर फैलकर अपनी वंश-वृद्धि करें। यह काम सुरोंकी इस अप्रत्यक्ष सहायताने सम्पन्न किया।

भूकम्पोंके कारण अनेक परिवर्तन हुए थे पृथ्वीमें। अनेक नवीन सरिताएँ निकलीं तो पुराने जलाशय सूख भी गये। सुरक्षित स्थलोंके भी स्थान आवासयोग्य नहीं रह गये। उनमें कुछ भूकम्पके झटकोंमें ऊपर उठ गये थे। वहाँ जलका अभाव हो गया था। कुछ नीचे हो गये तो वहाँ सदा—विशेषत: वर्षाके कुछ मास पश्चात् भी जल भरा रहने लगा।

सुरक्षित स्थानोंका पर्यावरण तो बहुत पूर्व भङ्ग हो चुका था। उनके पशु-पक्षी दूर-दूरतक बिखर गये थे और अनुकूल स्थानोंमें बस गये थे। उनकी वंश-वृद्धि भी बहुत हो चुकी थी। अब मनुष्य भी परिस्थितिसे विवश होकर उन स्थानोंको छोड़कर निकले।

अश्वत्थामाने पृथ्वीमें और कहीं मानव-वंश बचा ही नहीं रहने दिया था। अन्य चतुर्युगियोंके समान पूरी पृथ्वीको इस बार भी भारतीय मानवोंको ही फैलकर जनपद बनाना था; किंतु यह कार्य तो बहुत पीछे त्रेतामें प्रारम्भ हुआ, जब राज्योंकी स्थापना हुई और राजकुमार किन्हीं कारणोंसे निर्वासित होकर अन्यत्र बसनेको विवश हुए अथवा वैश्यवर्गके

व्यापारने व्यापकता और विविधता ली। सतयुगमें तो भारतभूमिमें भी कोई बड़ा जनपद नहीं बन सका।

आरम्भमें सुरक्षित स्थलोंके लोग निकले तो वे प्रायः पृथक् हो गये। उनमें न मोह था, न आसक्ति थी और न भय था। केवल पत्नी तथा अल्पवय बालक साथ लिये और चल पड़े। कोई उपकरण-वस्तुभार नहीं। वनोंमें चाहे जहाँ पत्ते, वल्कल मिल जाते थे और जब फल, कंद, मूल ही आहार हो, केवल जलकी सुविधा ही देखनी आवश्यक थी।

अधिक लोगोंने पर्वतीय प्रदेश पसंद किये, ऐसे पर्वतीय प्रदेश, जो बहुत ऊँचाईपर नहीं थे। जिनके आस-पास फलोंसे भरा वन था और कोई सरिता थी। निवासके योग्य जहाँ ऐसी सुविधाके साथ कोई गुफा भी थी, वे स्थल पहले अपनाये गये।

वे तपस्वी पुरुष थे। आराधना-ध्यान ही उनका जीवन था। गुफा या झोंपड़ी पत्नी अथवा शिशुओंके लिए। परिग्रहमें प्रायः ऐसे सबके साथ कुछ गायें थीं। पुरुष जैसे दायित्वमुक्त था। स्त्रियाँ ही गृहस्वामिनी और गृहसंचालिका थीं।

सुरोंने एक काम और किया। स्त्रियोंके मनमें जो सहज वात्सल्य है, उसे उद्दीप्त कर दिया। वे अधिक संततिकी स्पृहा और इसमें परस्पर स्पर्धा करने लगीं। उनका वात्सल्य समीपके पशु-पक्षियोंको भी शान्त, सद्भावयुक्त और पालितके समान रखने लगा।

आरम्भमें सुरोंने एक और अनोखी सहायता की। आप इसे प्रकृति-परिवर्तनका प्रभाव भी कह सकते हो। आज भी पृथ्वीके अनेक प्रदेशोंमें कन्या-संतति अधिक होती है। उस समय तो प्रान्त या नगर थे नहीं; किंतु जो बिखरा मनुष्य-समुदाय था, उसमें कन्याएँ अधिक उत्पन्न होने लगीं।

कन्या अविवाहिता बनी रहे, यह उस समयका पुरुष स्वीकार नहीं कर सकता था। स्वयं स्त्रियोंमें संतानपाने—अधिक संतानोंकी माता कहलानेकी स्पर्धा उत्पन्न हो गयी थी। यह महिलाके लिए गौरवकी बात थी। अतः बहुपत्नी-प्रथा सामान्य हो गयी। सुरक्षित क्षेत्रोंसे बाहर बर्बरोंमें

तो यह पहले-से वर्तमान थी, अब सुरक्षित क्षेत्रोंसे बिखरकर बसे ब्राह्मणों और वैश्योंमें भी यह व्यापक हो गयी।

जब लोग बहुत बिखरकर प्रायः एकाकी बस गये, वस्तु-विनिमयकी आवश्यकता भी बहुत बढ़ गयी; क्योंकि सब स्थानोंमें सब पदार्थ न उत्पन्न होते थे, न सब समय सुलभ थे। जबकि सुरक्षित स्थानोंके विप्रोंको यज्ञ करते रहनेका अभ्यास था और उसमें अनेक वस्तुएँ आवश्यक थीं।

वैश्यवर्ग पहले-से वस्तु-संग्रह करनेका अभ्यासी था। उसका व्यापार-क्षेत्र व्यापक बना तो उसे वाहनकी आवश्यकता हुई। कृषि भी धीरे-धीरे वह करने लगा। अश्व और बैल वाहन तथा पदार्थ ले जानेके लिए आवश्यक थे, अतः पशु-पालन भी उसने अपनाया। इस प्रकार कृषि पशुपालन और व्यापार वैश्यवृत्ति बनी। व्याज तो बहुत पीछे वैश्यवृत्ति स्वीकार हुआ; किंतु कभी उसे अच्छी वृत्ति नहीं माना गया।

सुरोंकी अप्रत्यक्ष सहायता नवीन समाजकी स्थापनामें सहायता कर रही थी।

सक्रिय सिद्ध-संघ–

अतिमानव शक्तियोंपर आप अविश्वास कर सकते हैं, किंतु इसका उनपर कोई प्रभाव तो पड़ता नहीं और उनके होनेके प्रमाण बहुत प्रचुर पाये जाते रहे हैं।

उपदेवगणोंमें एक सिद्धवर्ग भी है। पृथ्वीके भी अनेक प्रदेशोंमें सिद्धोंकी स्थितिका अनुभव समय-समयपर लोगोंको हुआ है। अवश्य ही यह वर्ग केवल अपनी इच्छासे किसी अधिकारी पुरुषके सम्मुख ही प्रकट होता है। वैसे संसारका कोई प्रदेश ऐसा नहीं, जहाँ आध्यात्मिक साधन भी हुए हों, इनसे सूना हो; क्योंकि साधनका फल ही है कि यदि मुक्त नहीं हुए तो सिद्ध बने।

भारतमें और तिब्बतमें भी सिद्धोंकी संख्या बहुत अधिक है; क्योंकि ये क्षेत्र प्रधान साधन-भूमियाँ रही हैं।

जब पृथ्वीपर कल्किके द्वारा दस्युओंका प्रायः दलन हो गया और अवशिष्टको सुरोंकी प्रेरणासे उत्पन्न महामारियोंने, भूकम्पोंने मार दिया तो पृथ्वी स्वच्छ हो गयी। केवल सात्त्विक पुरुष बच रहे। कुछ बर्बरोंमें-से भी बचे थे; किंतु उनका भी अन्तःकरण शुद्धप्राय हो गया था। धरापर सत्त्वगुण प्रधान हो गया। कलिके कल्मषका अन्त हो गया।

अब सुर भी पृथ्वीपर आनेको उत्सुक हुए। ऐसी अवस्थामें सुरोंसे भी पहले सिद्ध-संघ सक्रिय हुआ; क्योंकि अधिकारी मानवको उपयुक्त अवसर एवं मार्ग-दर्शनका दायित्व ईश्वरकी ओरसे इसी वर्गपर है। यही वर्ग साधकका संरक्षण भी करता है।

सिद्ध-संघमें सम्प्रदाय-भेद सम्भव नहीं है; क्योंकि परमसत्य अनेक नहीं है, उसे प्राप्त करने चाहे जो, चाहे जिस पथसे चला हो, लक्ष्यके समीप पहुँचकर उसमें मार्ग-भेदका आग्रह नहीं रह जाता। मार्गों–सम्प्रदायोंका मुख्य तात्पर्य उसके सम्मुख स्पष्ट हो जाता है।

अवश्य ही सब सिद्धोंमें समान शक्ति नहीं होती। उनमें शक्ति-तारतम्य होता है और उनमें रुचि-भेद होनेसे साधन-विशेषके प्रति आग्रह भी होता है। अतः वे अपनी रुचिके अनुकूल साधकपर ही अधिक कृपालु होते हैं।

सुरक्षित स्थलोंके जो लोग अब बिखरकर स्थान-स्थानपर जा बसे थे, उनके समीप भी कोई ग्रन्थ नहीं थे। परम्परासे प्राप्त संध्यादि कर्मके थोड़े-से मन्त्र तथा सामान्य कृत्योंकी विधियाँ ज्ञात थीं उन्हें। अब यह भी सुयोग नहीं रहा कि वयोवृद्ध उन्हें समझाते, सँभालते। कोई समस्या उत्पन्न होनेपर एकत्र होकर वे परस्पर सम्मति करके कुछ निर्णय करते।

जीवन इतना सरल कहाँ है। इसमें तो समस्याएँ आती ही रहती हैं। मनुष्य केवल अपनी समझपर निर्भर करे तो कितने ही छोटे-बड़े अनर्थ सम्भव रहते हैं। एकान्तमें ध्यान, तप किया जा सकता है, किंतु व्यक्ति कितना भी सात्त्विक हो, एकान्तमें आत्मज्ञान भले सम्भव हो, सांसारिक व्यवहारकी जानकारी नहीं मिला करती।

श्रुतिका लोप हो चुका था। स्मृतियोंका तो तब सृजन होता, जब श्रुतिका साक्षात्कार प्राप्त होता। एक सुरक्षित क्षेत्रके सब लोगोंका लगभग एक-सा आचार-व्यवहार अबतक था; किंतु अब सबके पृथक् होजानेपर उसमें भी अन्तर आने लगा था। कोई आधार उसको स्थिर रखने और उसमें समन्वय बनाये रखनेका नहीं था।

यह सब कार्य सिद्ध-संघको सम्पन्न करना था। उन्होंने स्वयं अधिकारी अन्वेषण किये और उन अधिकारियोंको प्रत्यक्ष अथवा उनके ध्यानमें दर्शन देकर उनको निर्देश देना प्रारम्भ किया।

लोगोंमें सात्त्विकता थी। निस्पृहता थी। अपरिग्रह था और उनका उत्साह था तप तथा ध्यानमें। अवश्य ही उनमें रुचि-भेद अर्थात् अधिकार-भेद तो होना ही था, किंतु यह उस समय आवश्यक भी था; क्योंकि सभी कुछका श्रीगणेश होना था। अतः जो जैसा अधिकारी था, सिद्ध-संघके लोगोंमें-से वैसे महापुरुषने उसे उस प्रकारके साधनमें लगा दिया।

श्रुतिका लोप हो गया था। पृथक्-पृथक् बसे लोगोंमें अनेक अधिकारी थे। सिद्ध-संघके सदस्योंने उनको सूर्योपासना तथा सूर्य-रश्मियोंमें संयमकी पद्धति सूचित की। श्रुतिके समस्त मन्त्र तो भगवान् सविताकी किरणोंमें शाश्वतकालसे उनके कम्पन-स्वर हैं। उनको सुनकर उनका मनन और उनके देवताका ध्यान—यह पद्धति है श्रुत्यर्थके साक्षात्कारकी। सिद्धोंने इस पद्धतिसे अनेकोंको ऋषि बननेकी प्रेरणा दी। अवश्य उन साधकोंको समय लगा। सभी सफल भी नहीं हुए; किंतु श्रुतिका साक्षात्कार करके ऋषि होनेकी परम्परा प्रारम्भ हो गयी।

जो ऋषि हो सके, उन्होंने सूत्र-ग्रन्थ भी निर्मित किये और उनकी कारिकाएँ अर्थात् स्मृतियाँ भी। उन्होंने श्रुतिके साक्षात्कारके समय समाधिमें जो कुछ समझा था, उसे उत्थानकालमें स्मरण करके श्लोकबद्ध किया तो वे स्मृतियाँ कहलायीं और स्मरणकी सुविधाकी दृष्टिसे संक्षिप्त रूप दिया तो सूत्र-ग्रन्थ बने। इस प्रकार समाज़के लिए श्रुत्यनुकूल समाजशास्त्र अर्थात् स्मृतियोंका आविर्भाव हुआ।

श्रुतियोंके साक्षात्कारके साथ ही उनके अङ्गोपाङ्गका भी आविर्भाव आरम्भ हो गया। उपवेद तथा वेदाङ्ग■ भी प्रकट होने लगे। अवश्य ही ये प्रारम्भमें केवल सैद्धान्तिकरूपमें प्रकट हुए। इनका प्रायोगिक अनुभव तो पीछे आवश्यकताके अनुसार प्राप्त होता रहा। इसमें भी सिद्धोंकी सहायताके बिना काम नहीं चलना था।

भारतीय परम्परा ही प्रत्येक प्रकारके ज्ञानमें प्रयोग करके अनुभव-प्राप्त करनेकी नहीं रही है। यहाँ ध्यानके द्वारा ही प्रभावका प्रत्यक्ष करनेकी परम्परा रही है। आयुर्वेद-जैसे सर्वथा प्रत्यक्ष विषयमें भी ऋषियोंने ध्यान तथा सर्वज्ञताका ही आश्रय लिया। अन्यथा विभिन्न क्षेत्रोंमें, विभिन्न समयोंमें उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियों, धातुओं तथा प्राणियोंके भी विभिन्न भागोंके गुण-धर्म, प्रभाव और उनके मिश्रणोंका प्रभाव प्रयोग करके पता लगानेमें तो लाखों वर्ष भी अपर्याप्त होते।

■ इन सबका विस्तार एवं विषय 'हमारे धर्मग्रन्थ' में है।

जगत्के प्रत्यक्ष क्षेत्रमें, आधिदैवत क्षेत्रमें और अध्यात्मज्ञानके विविध साधनोंमें भी मनुष्योंको उनकी रुचि-अधिकारके अनुसार लगाकर उनका मार्ग-दर्शन एवं उनका संरक्षण सिद्धोंका सदा-से दायित्व रहा है। केवल कलिके अन्तमें मनुष्योंके अनधिकारी होनेसे यह समुदाय तटस्थ हो गया था। इसके तटस्थ हो जानेसे अधिकांश विद्याओंका ही लोप हो गया था। अब कल्किके आविर्भावसे जब कलियुगकी समाप्ति आसन्न हो गयी और अधिकारी मनुष्य साधनोन्मुख हुए, सिद्ध समुदाय अधिक सक्रिय हो गया।

इससे कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि उस समय मनुष्योंकी संख्या ही अत्यल्प थी। कभी भी समाजमें विशिष्ट विद्वान्, वैज्ञानिक अथवा उत्कृष्ट कलामर्मज्ञ क्या बहुसंख्यामें रहे हैं? ये बहुसंख्यामें केवल उस युगारम्भमें हुए; क्योकि तब मनुष्य ही अत्यल्प थे।

सबसे अधिक आध्यात्मिक साधनोंका विस्तार हुआ; क्योंकि सिद्धोंकी भी इनमें विशेष रुचि थी और उस समयके सात्त्विक, तपोनिरत लोग भी मोक्षको ही पुरुषार्थ माननेके पक्षमें थे। वे बहुत अधिक बहिर्मुख भी होते थे तो धर्म-पुरुषार्थतक आते थे।

सुर स्वयं-उत्सुक रहते थे कि साधक संकल्प करे तो वे उससे प्रत्यक्ष मिलकर संलापका सुयोग प्राप्त करें। पृथ्वीकी सात्त्विकता सुरोंको यहाँके मानवोंसे सम्बन्ध बनाने प्रलुब्ध करने लगी थी।

श्रुतियोंके साक्षात्कार और सुरोंके सहयोगके कारण यज्ञका आरम्भ हो गया, किंतु मनुष्योंके मुख्य प्रेरक अतिमानव सिद्ध पुरुष ही थे। अतः मनुष्यकी अन्तर्मुखता अभङ्ग बनी रही। यज्ञकी अपेक्षा तप, ध्यानादि आध्यात्मिक साधनोंमें ही उसकी अभिरुचि अधिक थी।

अन्ततः प्रकृतिमें दुर्घटनाएँ भी तो होती ही हैं। परस्परके संघर्षसे अथवा किसी असावधानीसे, प्रमादसे पशु आहत या रुग्ण हो जाते थे। वे समीप जो भी मनुष्य होता था, सहायताके लिए उसके पास पहुँचते थे। आज भी वनवासियोंका अनुभव है कि उनकी झोंपड़ीमें कभी वनपशु आता है तो आपत्ति या आतंकग्रस्त होकर सहायता या सुरक्षा पाने ही आता है। ऐसे अवसरोंपर सात्त्विक व्यक्तिमें दया तथा सहानुभूतिका सहज उदय होता

है। इसी प्रकारकी प्रेरणाओंसे मनुष्य कुछ बहिर्मुख होता था और तब उसमें धर्म प्रश्रय पाता था।

चिकित्सा, ज्योतिषादिका उदय प्रायः ऐसी ही भूतदयाकी प्रेरणासे हुआ। कोई अधिक सदय साधक किसीकी आपत्तिसे द्रवित हो उठा। उसने उसके कष्ट-निवारणका स्थायी उपाय पानेका प्रयत्न किया और उसमें जुट गया। ऐसे परोपकार-परायण, पुरुषोंको भी सिद्धोंने सहानुभूतिपूर्वक सहायता दी। उनका पथ-प्रशस्त किया।

इस प्रकार सिद्ध-संघकी सक्रियताके कारण मनुष्योंको लोक-परलोक सम्बन्धी अनेक विद्याएँ प्राप्त हुईं। दीर्घकालतक यह क्रम चलता रहा। इससे समाजकी आधारभूमि एवं आचार-संहिता–दोनों प्रस्तुत हुईं।

विपुल पौरुष-

अभी कल्किका संहार-कार्य सम्पूर्ण नहीं हुआ था। उनका प्रयत्न अनथक चल रहा था। प्रातः से प्रारम्भ करके सायंकालतक उनका अश्व अविराम दौड़ता या उड़ता रहता था। कल्किकी करवाल काटती रहती थी दस्युओंका दल।

अद्भुत था अश्व। जैसे वह दस्युओंको दूरसे सूँघ लेता था। वह उनके मध्य ही उतरता था और इस प्रकार उनको घेरकर दौड़ाता घूमता था कि उनमेंसे सैनिक वृत्तिका, आक्रामक मनोवृत्तिका कोई ही बच सकता था। कदाचित् कोई बचता भी तो भागकर, अत्यन्त भयभीत होकर। उसके अन्तःकरणमें भय जमकर बैठ जाता था। पीछे भी वह किसी सामान्य पशुको देखकर भी चौंकता था।

कल्किो सोचनेका कोई अवकाश नहीं था। सायं-संध्या और फलाहारके पश्चात् वे सो जाते थे और ब्राह्ममुहूर्तमें ही उठते थे। सूर्यको देखकर ही उन्हें दिशा-ज्ञान होता था; किंतु इस दिशा-ज्ञानका उन्हें करना भी क्या था। उन्हें कहाँ किधर जाना है, यह निर्णय तो उन्होंने अपने उस देवदत्त अश्वपर छोड़ दिया था।

अश्व कभी कहीं किसी सुरक्षित स्थानपर अथवा उसके अन्यत्र बसे निवासीके समीप नहीं गया। किसी दस्यु-ग्राममें दूसरी बार भी नहीं भटका। अवश्य ऐसे स्थलोंको जहाँ वह एकबार आ चुका था, उसे पार करना पड़ा, किंतु यदि उसने उन्हें गगनसे पार नहीं भी किया तो तीव्रगतिसे दौड़ते हुए पार किया।

सरिताएँ, सरोवर, पर्वत और भूकम्पादिसे बने खड्ड, गह्वर, कानन, मरुस्थल उस गगनगामी अश्वके कोई अवरोधक नहीं थे। इसलिये कहीं भी बसा दस्यु-ग्राम उससे सुरक्षित नहीं था। वह कल्किको केवल दस्यु-ग्रामोंतक पहुँचानेके अविश्रान्त कार्यमें पूरी दक्षतासे लगा था। उस दिव्य अश्वको अपने दायित्वका पूरा बोध था।

दूसरी ओर जो लोग सुरक्षित स्थानोंसे निकलकर बिखर गये थे, वे भी अनथक उद्योगमें लगे थे; किंतु उनका उद्योग दूसरे प्रकार था।

संधिकाल सदा अशान्ति उत्पन्न करनेवाला होता है। जो लोग कलियुगके अन्तमें सुरक्षित स्थानोंमें थे, वे अत्यन्त शान्त, संतुष्ट, अन्तर्मुख प्रवृत्तिके लोग थे; क्योंकि सात्त्विकता उन स्थलोंमें अत्यन्त सघन हो गयी थी। लेकिन अब जब कि अश्वत्थामाने लगभग पूरी पृथ्वी बर्बरोंसे स्वच्छ कर दी थी और कल्कि भारतमें कोटि-कोटि दस्युओंको काटते घूम रहे थे, सात्त्विकता स्थान-विशेषोंमें सीमित नहीं रही। उसका प्रसार हुआ तो उन स्थानोंमें, उनके निवासियोंमें भी रजोगुणने प्रवेश किया। यद्यपि वह रजोगुण सत्त्वोन्मुख ही था।

इस सत्त्वोन्मुख रजोगुणके प्रवेशका ही फल था कि उन स्थानोंके लोगोंमें बिखरकर स्वतन्त्र स्थानोंमें एकाकी या अपने परिवारको लेकर जा बसनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। ऐसे अनुकूल स्थानोंको प्राप्त करनेमें प्रवास एवं प्रयास—दोनों करना पड़ा था; क्योंकि जलकी सुविधा सबके लिए अनिवार्य आवश्यकता थी और समीपमें फल, कंदादि प्राप्त होते न हों तो वहाँ रहना सम्भव नहीं था। अपने पशुओं-गायोंके लिए तृण भी अपेक्षित थे।

बाह्य-प्रवृत्ति स्त्रियोंमें बढ़ी। उन्हींपर संतान-पालन तथा गृह-व्यवस्थाका दायित्व था। उनके पतिने जहाँ निवास करना चाहा, वे अपनी व्यवस्थामें लग गयीं। वैश्योंको अधिक उद्योग करना था; क्योंकि उन्हें वस्तु-विनिमयरूप व्यापारही नहीं करना था, उनके पास पशु भी अधिक थे और वस्तु-संग्रह सुरक्षित रह सके, इसकी भी व्यवस्था उन्हें आवश्यक थी। वे ब्राह्मणोंके समान बार-बार स्थान-परिवर्तन नहीं कर सकते थे। उनकी सुविधा अनेकके एकत्र रहनेमें थी। अतः उनकी ही बस्तियाँ पहले बनीं। अवश्य वे छोटे ग्राम ही थे।

जब कोई बस्ती बनती है तो एकाकी व्यक्तिकी अपेक्षा उसकी आवश्यकता भी अधिक होती है। उसमें मार्ग, जलके निकास आदिका प्रबन्ध आवश्यक होता है। सामूहिक आवश्यकता सामूहिक प्रयत्नका प्रादुर्भाव करती है।

वणिक्-वर्गको वस्तु-विनिमयके लिए प्रवास करना पड़ता था। ये प्रवास दूरतकके लिए और दीर्घकालीन भी होते थे। फलतः इन प्रवासोंमें भी सामूहिक रूपमें प्रस्थान अधिक सुविधाजनक था।

ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंको पतिकी इच्छानुसार स्थान-परिवर्तन तो करना था, किंतु जहाँ भी रहना हो, वहाँकी स्वच्छता, कंद-मूलादि-संग्रह और पशु-पालन उन्हींपर निर्भर था। उन्हें ही संतानोंका पालन और प्रारम्भिक प्रशिक्षण भी करना था। उनको इसमें आरम्भमें अनथक उद्योग करना पड़ा। उनके बालक ही इसमें उनका सहयोग करते थे।

सतयुगका प्रारम्भ होजानेपर सत्त्वगुणकी पूर्ण प्रतिष्ठा हुई और ब्राह्मण तप-ध्यानमें भली प्रकार लग सके। लगे तो वे संधिकालमें भी इसीमें थे, किंतु संधिकालमें उनका तप, ध्यान, मनन-चिन्तन सर्वथा पारमार्थिक नहीं था। वे भी विपुल-पौरुषमें ही लगे थे। उनका भी तपादि सोद्देश्य था और इसमें उन्हें संतुष्टि प्राप्त होती थी।

सिद्ध-संघ सक्रिय था ही। उसने ब्राह्मणोंके चित्तमें मन्त्र-दर्शन और उसके अर्थ-विस्तारकी प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी थी। अतः ब्राह्मणोंके पुरुषवर्गका प्रत्येक इस पौरुषमें जुट गया था। अपवादस्वरूप कुछ स्त्रियाँ भी इस प्रवृत्तिमें सम्मिलित हुईं और उन्होंने भी मन्त्र-दर्शन किया।

जहाँ कम्पन होता है, वहाँ शब्द होता है, यह नियम तनिक उलटा है। पहले शब्द होता है, तब उससे कम्पन होता है, यह भारतीय दर्शनकी मान्यता है; क्योंकि शब्द आकाशका गुण है। आकाशसे वायुकी उत्पत्ति है और कम्पन तथा क्रिया वायुका धर्म है।

सूर्य-मण्डलसे जो किरणोंका अनवरत निस्सरण है, उनके मूल प्रेरकके रूपमें शब्द है। यही शाश्वत शब्द श्रुतिके मन्त्र हैं; किंतु मूलशब्द तो मात्र प्रणव है। प्रकृतिके विभिन्न स्तरोंमें किरणोंके प्रवेशसे मूलशब्दमें विकृति आती है। उससे अक्षर और मन्त्र बनते हैं। इसीसे वेदका प्रारम्भिक रूप केवल प्रणव है।■

■ **वेदः प्रणव एवाग्रे ।**

—भागवत २१।१७।११

सूर्यकी किरणोंमें मनको केन्द्रित करके उन किरणोंके कम्पन और उन कम्पनोंके मूलशब्दोंको सुन लेना सरल काम नहीं था। इसमें बहुत धैर्य, बहुत समय, बहुत एकाग्रताकी आवश्यकता थी। इस प्रकार मन्त्रका साक्षात्कार होता था। जो एक भी मन्त्रका साक्षात्कार कर लेता था, वह उस मन्त्रका द्रष्टा ऋषि माना जाता था।

यहीं स्मरण रखनेकी बात है कि मन्त्रका कर्ता कोई नहीं होता। मन्त्र अर्थात् वेद तो नित्य हैं, अनादि हैं, शाश्वत हैं। उनका केवल साक्षात् होता है। अतः मन्त्रका द्रष्टा ऋषि होता है।

केवल मन्त्र-दर्शन पर्याप्त नहीं है; क्योंकि मन्त्र मिलनेमात्रसे कोई विशेष प्रयोजन पूरा नहीं होता। मन्त्रार्थका भी दर्शन होना चाहिये। अतः मन्त्र-दर्शनके पश्चात् उस मन्त्रके देवताका ध्यान करके जब वह मन्त्र-द्रष्टा ऋषि उसमें तन्मय होता था, प्रायः समाधिमें (सविकल्प समाधिमें) देवताके अनुग्रहसे मन्त्रार्थका साक्षात्कार होता था।

समाधिसे उत्थानके पश्चात् समाधिमें जिस मन्त्रार्थका साक्षात्कार हुआ है, उसे स्मरण करके उसे सूत्रोंमें अथवा श्लोकोंमें वह ऋषि व्यक्त करता था। स्मरण करके समाधिमें प्राप्त ज्ञान व्यक्त किया गया, इसीलिये उसकी संज्ञा 'स्मृति' हुई। इस स्मरणके आधारपर ही आगे इतिहास-पुराणका प्रस्तार हुआ।

ऐसा नहीं है कि प्रत्येक सतयुगके प्रारम्भमें इसी प्रकार समस्त शास्त्रोंका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकारका सम्यक् सम्पूर्ण प्रादुर्भाव तो केवल सृष्टिके प्रारम्भमें होता है। कल्पके प्रारम्भमें भी दिव्य ऋषियोंको ब्रह्माजीसे श्रौतज्ञान मिलता है और उनके द्वारा दूसरोंको। इस प्रकार श्रवण-परम्परासे प्राप्त होनेके कारण ही अनादि ज्ञान 'श्रुति' है।

प्रत्येक कलियुगके अन्तमें होता यह है कि कुछ गिने-चुने—बहुत ही कम ऋषियोंको इस प्रकार कुछ मन्त्रोंका साक्षात्कार हो पाता है। इससे उनका जो समाजमें अत्यधिक सम्मान बढ़ता है, उससे दूसरोंमें ज्ञानप्राप्तिकी—श्रौत विद्याओंकी स्पृहा जागती है। वे स्वयं प्रयास करते हैं और उसमें श्रान्त होनेपर उसे औरोंसे पानेका प्रयत्न करते हैं।

औरोंसे श्रौत विद्या पानेका यह प्रयास उस समय सरल तो होता नहीं। बहुत भटकना पड़ता है केवल यह पता लगानेके लिए कि अभीष्ट विद्या कहाँसे प्राप्त होगी। पता लगनेपर उस विद्या-दाता समर्थ गुरुतक पहुँचना पड़ता है और अपने संयम, श्रद्धा, सेवासे उसे संतुष्ट करना पड़ता है।

आप यह ध्यानमें रखें कि इस समय केवल उस चतुर्युगीके सप्तर्षि, आगामी चतुर्युगीके सप्तर्षि मात्र वैदिक-विद्याओंके शिक्षक हो सकते थे और प्रायः ये भी अप्रत्यक्ष रहते थे, तो यह बात समझमें आ जायगी कि इनसे भी मिलकर कोई विद्या प्राप्त करनेमें कितना अनथक प्रयास और प्रबल-पौरुष आवश्यक था।

उस संधिकालमें क्षत्रिय थे नहीं। वे कैसे आये और बढ़े, यह आगेके अध्यायोंमें। शूद्रोंका भी विस्तार और सेवा-स्वीकृति आगे वर्णित होगी। व्यापार और विद्याके लिये प्रबल-पौरुषमें उस समयके पुरुष लगे थे।

कलापग्राममें-

अद्भुत स्थान कलापग्राम और आश्चर्यजनक यहाँके निवासी। इस स्थानका कुछ उल्लेख स्कन्दपुराणमें है। वहाँ कथा है कि नारदजी वहाँसे कुछ ब्राह्मणोंको धर्मारण्य (वर्तमान घमारण, गुजरात) में ले आये थे। उन्हींकी संतानें नागर ब्राह्मण हैं।

वाराणसीके परलोकवासी प्रसिद्ध सिद्ध स्वामी विशुद्धानन्द और बस्तीके दिवंगत प्रज्ञाचक्षु अद्भुत प्रतिभाशाली पं० धनराज शास्त्रीने भी अपने इस स्थानकी यात्राका उल्लेख किया था। अवश्य ही इन उल्लेखोंमें नाम पृथक्-पृथक् कहे गये हैं, किंतु पुराणके और इन दोनों तथा कई और अद्भुत चमत्कार-सम्पन्न पुरुषोंके वर्णन यह सिद्ध करते हैं कि यह अद्भुत दिव्य स्थान हिमालयमें कहीं बदरीनाथधामसे और आगे है। कितना आगे, कुछ कहा नहीं जा सकता।

उन वर्णनोंके आधारपर जो कुछ पता लगता है, उसका भी संक्षिप्त सारांश यह है कि अन्वेषण करके, वर्तमान किसी यन्त्र या प्रयत्नसे उसे पाना सम्भव नहीं है; क्योंकि सामान्य मानव-नेत्रोंके लिए वह स्थान तथा उसके निवासी अदृश्य हैं।

वहाँ कल्पान्तजीवी सिद्ध तपस्वी बहुत बड़ी संख्यामें हैं। उनका जीवन ही तप एवं योगादि साधन हैं। वे परस्पर भी प्रायः अदृश्य ही रहते हैं। प्रयोजन-विशेषसे ही उनमें कोई एक या अनेक किसीके लिए दृश्य होते हैं।

वहाँ प्रत्यक्ष बात-चीतकी परम्परा प्रायः नहीं है। वे संकल्पकी भाषामें ही बात करते हैं। अर्थात् उनका संकल्प दूसरे अभीष्ट व्यक्तिके मस्तिष्कमें स्फुरित होता है।

उनके समीप अनेक सिद्धौषधियाँ तथा असंख्य ग्रन्थ हैं। उनके आहारादिका साधन भी अद्भुत कंद हैं और उनका भी उपयोग उन्हें कभी ही आवश्यक होता है।

विज्ञानने देश और कालकी सापेक्षता तो स्वीकार ही कर ली है। वर्णनोंसे लगता है कि कलापग्रामका देश और काल हमारे जाने हुए देश-कालसे भिन्न है। अतः वहींके किसीकी इच्छाके बिना उनके देशका पता पाना सम्भव नहीं।

स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा धनराज शास्त्रीके वर्णनोंसे भी लगता है कि उस दिव्य स्थलके सिद्धगण संसारपर दृष्टि रखते हैं। किसी समय किसी अधिकारी व्यक्तिको वहाँ प्रयोजन-विशेषसे प्रवेश भी देते हैं और कुछ विद्याएँ एवं शक्तियाँ देकर लौटा देते हैं।

पुराणोंके अनुसार इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न राजा अग्निवर्णके पौत्र तथा शीघ्रके पुत्र मरु और चन्द्रवंशमें उत्पन्न भीष्मपितामहके पिता शंतनुके बड़े भाई प्रतीप इसी कलापग्राममें अभी तपोनिरत हैं। इन दोनोंकी चर्चा पीछे की गयी है। इनके कार्यका वर्णन आगे करना है।

इसी कलापग्राममें उस दिन समस्त सिद्ध प्रत्यक्षरूपसे एकत्र हुए। कहना चाहिये कि उनकी सभा एकत्र हुई।

'भगवान् कल्किने प्रायः कर्म-भूमि भारतको दस्युओंसे स्वच्छ कर दिया है।' एक अतिशय वृद्ध एवं तेजस्वी महात्मा अपने आसनपर उठकर खड़े हो गये थे। उन्होंने और दूसरोंने भी अपने करोंसे नेत्र-पलकें ऊपर उठा रखी थीं; क्योंकि उनकी श्वेत पलकें (पलकोंके केश) इतने बढ़ गये थे कि हाथसे उठाये बिना नेत्रोंका खुलना सम्भव ही नहीं था। वे महापुरुष कह रहे थे—'अब भारतमें सतयुगका शीघ्र आरम्भ होगा। इस समय हम-सबको भी वहाँके सात्त्विक पुरुषोंकी कुछ सहायता आवश्यक है।'

'मरु और प्रतीप भगवान् व्यासके आश्रममें पहले ही पहुँच गये हैं।' सम्भवतः उत्तर देनेवाले उन सिद्धोंके भी अध्यक्ष होंगे। 'मनुष्य इस समय अनेक विद्याओंकी प्राप्तिको आकुल है और अपनी शक्ति तथा प्रज्ञाके अनुकूल पौरुषमें भी लगा है।'

'मुझे आवश्यक लगता है कि अब मनुष्यकी सहायताकी जाये।' प्रथम महापुरुषने स्पष्ट कहा—'हमारे समीप जो साहित्य और शक्ति सुरक्षित

है, सर्वेशने उसे समयपर संसारको सौंपनेके लिए ही हमारे यहाँ रखा है। अतः अब समय आ गया है कि हममें-से कुछ लोग थोड़े समयके लिए मनुष्योंमें-से कुछ उचित अधिकारियोंसे सम्पर्क करें और उन्हें उपयुक्त विद्या तथा शक्ति प्रदान करें।'

'इसे इस दिव्य भूमिसे निर्वासनके अर्थमें नहीं लेना चाहिये।' अध्यक्षने स्पष्ट किया—'अवश्य ही जानेवालोंमें कुछको प्रत्यक्ष वहाँ कुछ काल रहना पड़ेगा और कुछ प्रत्यक्ष-अप्रयत्क्ष अधिकारियोंसे मिलते, उन्हें सहायता देते रह सकेंगे।'

'मध्यमें भी वे यहाँ इच्छा होनेपर आ सकेंगे।' प्रथम वृद्धने पुनः स्पष्ट किया—'किंतु केवल उत्कण्ठाके कारण नहीं, अपने कार्यका कोई एक चरण पूरा होनेके पश्चात् और इस सावधानीसे कि इस दिव्यस्थलकी मर्यादा भङ्ग नहीं होगी।'

'कोई भी यदि किसी लौकिक पुरुषको किसी भी कारणसे यहाँ ले आवेगा तो वह जबतक उसे नीचे संसारमें लौटा नहीं लेगा, उसके लिए भी यह स्थान अदृश्यप्राय रहेगा।' अध्यक्षने मर्यादा स्पष्ट की—'उसे आवश्यक ग्रन्थ तथा औषधियाँ उपलब्ध हो जायँगी, किंतु उस समय उसकी किसी आवश्यकताका निर्णय वह स्वयं नहीं करेगा। उसका निर्णय यहाँका समुदाय करेगा।'

यह नियम इसलिये भी आवश्यक था कि संसारके सामान्य समाजमें जानेपर उच्चतम सिद्ध पुरुषका मानस भी दया, कृपा अथवा किसी श्रद्धालुकी सेवासे प्रभावित हो सकता है। अतः निर्णयका अधिकार निरपेक्षजनोंके समीप ही होना चाहिये।

आध्यात्मिक साधक, सिद्ध और तत्त्वज्ञ भी सदासे दो प्रकारके होते आये हैं। एक निवृत्तिप्रधान और एक प्रवृत्तिप्रधान। यह स्वभाव-भेद ही है। इसमें दोनोंके महत्त्व अथवा तत्त्वानुभूतिमें कोई तारतम्य नहीं होता।

निवृत्तिप्रधान महापुरुषोंके भी दो भेद देखनेमें आये हैं। एक नितान्त निवृत्तिप्रधान। उन्हें तो नेत्रकी पलकोंका उन्मेषण-निमेषण भी जैसे

अनुपयोगी लगता है। नेत्र बंद किया और कहीं पड़ गये। इनका पता संसारके लोगोंको लगता ही नहीं; क्योंकि ये किसीके साथ सम्पर्क नहीं किया करते।

दूसरे प्रकारके निवृत्तिप्रधान महापुरुष श्रीशुकदेवजी, जड़ भरतके समान होते हैं। सामान्यतः तो वे संसारसे अत्यन्त निरपेक्ष, सम्पर्करहित होते हैं, किंतु किसी अवसर-विशेषपर, अधिकारी-विशेषके लिए उनकी करुणा उमड़ पड़ती है। तब वे उपदेश भी करते हैं और भगवान् दत्तात्रेय या दुर्वासाजीके समान आशीर्वाद-वरदान या शाप भी दे सकते हैं।

कलापग्रामका समस्त सिद्ध महापुरुषोंका समुदाय निवृत्तिप्रधान तो है ही। यदि उनमें प्रवृत्ति होती तो वे उस संसारसे अलक्ष्य दिव्य देशमें ऐकान्तिक साधनामें संलग्न ही क्यों रहते।

वहाँ भी निवृत्तिप्रधान महापुरुषोंमें दो भेद थे। जो नितान्त निवृत्ति-निरत थे, उनसे कुछ कहा नहीं जा सकता था। उनका जो तर्क है, ममता-अहंताके लेशसे भी रहित उन महापुरुषोंके तर्कका प्रतिवाद सम्भव नहीं है। उनका तर्क है—'सृष्टिका कर्ता, पालक, संहर्ता जो सगुण सत्ता है, वह नित्य सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ है। सृष्टि उसकी इच्छानुसार संचालित है। उस संचालकको किसीकी भी सहायताकी कभी, कोई अपेक्षा नहीं है। संसारमें किंचित् परिवर्तनकी आकाङ्क्षा और प्रयास भी अपने अहंकारके कारण ही उठता है।'

सब महापुरुष ऐसे ही तो नहीं होते। सृष्टिके संचालकको भी सम्भवतः अपनी सहायता एवं सेवाकी अपेक्षा होती है। अतः वह महापुरुषोंमें भी सहज करुणा जगा देता है। ऐसे लोकोत्तर महापुरुष मानते हैं—'अभिमाना-भासके बिना तो शरीरकी सत्ता ही सम्भव नहीं है। जब अपने शरीरके दैनिक कार्य किये जाते हैं, शरीरको बचाये रखनेका कुछ प्रयत्न होता है तो संसारके कल्याणके लिए और अधिकारी पुरुषोंके प्रबोध तथा संरक्षणके लिए सम्भव प्रयत्नका त्याग क्यों किया जाय।'

कलापग्राममें जो पहली कोटिके नितान्त निवृत्तिप्रधान महापुरुष थे, वे तो उस सभामें भी सम्मिलित नहीं हुए थे। उनका तो सम्पर्क और दर्शन

भी वहाँके महापुरुषोंको भी संयोगवश ही होता था। जो उस सभामें उपस्थित थे, उनमें भी देखना था कि इस समय किनके भीतर करुणाका उद्रेक हुआ और वे संसारके कर्मक्षेत्रमें अपनी ऐकान्तिक साधनाका त्याग करके जानेको प्रस्तुत हैं।

वहाँ किसीसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं थी। जहाँ संकल्पकी भाषा ही सामान्य सम्पर्कका माध्यम हो, वहाँ वाणीसे पूछने और बतलानेका प्रसङ्ग प्रायः नहीं आया करता। अतः अध्यक्षको किसीसे कुछ पूछना नहीं था।

'आप-सब इस प्रकार भारत भूमिमें जहाँ-तहाँ सानुकूल स्थानोंपर प्रकट हों कि मनुष्योंको अद्‌भुत और आतङ्कजनक कुछ न लगे।' अध्यक्षने केवल इतनी सूचना दी—'आप यहाँ कभी आवें भी तो वहाँके लोगोंसे अलक्षित रखें इसे। आवश्यक औषधियाँ एवं ग्रन्थ तो आपके संकल्पसे वहाँ पहुँचते रह सकते हैं।'

सहायता आयी-

अचानक भारतवर्षके एकाकी बसे साधन-संलग्न, विद्या-बुभुत्सु ब्राह्मणोंमें यह बात फैलने लगी कि अमुक स्थानमें कोई सिद्धयोगी अथवा महातापस हैं।

जो ब्राह्मण-युवक किसी साधना-निर्देशककी खोजमें अथवा किसी विद्या-गुरुको पानेके लिए निकल पड़े थे, यहाँ-से-वहाँ पता लगाते भटक रहे थे, उनके द्वारा यह संवाद बहुत अधिक प्रसारित हुआ।

वैसे ऐसा कुछ नहीं था कि किसी वयस्क गृहस्थ या वृद्ध ब्राह्मणको ये अद्भुत महापुरुष मिलते ही न हों। अनेक वैश्योंको भी कोई-न-कोई महायोगी मिल जाता था; क्योंकि वैश्योंको उन दिनों प्रवास बहुत करना पड़ता था। उन दिनों बाजार तो थे ही नहीं, अतः आवश्यक वस्तुओंकी प्राप्ति और उनके विक्रयके लिए उन्हें यात्रा करते ही रहना था।

सबमें—वह वैश्य हो या ब्राह्मण, सबल श्रद्धा थी। अतः वैश्य भी कहीं-किसी सिद्ध महापुरुषका संवाद पा लेते थे तो अपना पथ छोड़कर भी उनके दर्शनोंका प्रयत्न करते थे। ऐसी यात्रा भी सदा निष्काम ही नहीं होती थी। इन सिद्ध योगियोंसे बहुत बार अत्यन्त दुर्लभ औषधियों अथवा धातुओंका पता लग जाता था अथवा ये कुछ ऐसी प्रक्रिया निर्दिष्ट कर देते थे, जिससे कोई औषधि बनायी जा सके, कोई धातु निर्मित हो सके अथवा अपने ही स्वास्थ्य एवं सुरक्षाका कोई सरल साधन सीख लिया जा सके।

वैश्योंमें अनेकोंको इससे विपुल लाभ हुआ और जब एकको कोई बड़ा लाभ होता है तो दूसरे भी दौड़ते हैं उसके उद्गमकी ओर। इस प्रकार भी अनेक योगियोंका पता लोगोंको प्राप्त हो गया और उनतक श्रद्धालु विप्र भी पहुँचने लगे।

योगसिद्ध पुरुषोंसे यह आशा तो की ही नहीं जा सकती कि वे घूम-कर प्रचार करेंगे। वैसे प्रचारकी पद्धति भी पाश्चात्य है, भारतीय नहीं।

भारतीय पद्धति है कि विद्या अधिकारी जिज्ञासुको ही प्रदान की जाय। ऐसे जिज्ञासुको, जो योग्य होनेके साथ श्रद्धालु और सेवापरायण हो।

स्वाभाविक था कि योगसिद्ध पुरुष परम्परा-पवित्र स्थलोंपर अपना आवास बनाते। अतः उनके आनेसे अनेक तीर्थोंका स्वयं समुद्धार हो गया। उन्होंने स्वयं भी आगत श्रद्धालुओंको उस स्थलका माहात्म्य सूचित किया।

विद्याओंका कोई एक विभाग तो है नहीं। किसी भी एक व्यक्तिके लिए सब विद्याओंमें पारंगत होना सम्भव नहीं है। आगत योगसिद्ध पुरुषोंने दो महत्त्वपूर्ण ढङ्ग अपनाये। उनके समीप जो पहुँचता था, सबको वे शिष्य-रूपसे स्वीकार नहीं करते थे। अनेक बार आगतको कह देते थे—'वत्स ! तुम मेरे कुलके (विद्याकुलके या साधन-कुलके) नहीं हो। तुमको अमुक स्थानपर अमुकके समीप जाना चाहिये।'

कम-से-कम आध्यात्मिक साधनके क्षेत्रमें यह स्वस्थ परम्परा भारतमें उन्नीसवीं शतीतक बनी रही थी। साम्प्रदायिक संकीर्णता महापुरुषोंमें हुआ नहीं करती।

वे योगसिद्धजन यह भी करते थे कि किसी आगतकी वर्तमान रुचि एवं प्रार्थनाकी उपेक्षा करके कह देते थे—'यह तुम्हारा मार्ग नहीं है। तुम अमुक दिशामें प्रयत्न करो !'

ऐसे लोगोंको निर्दिष्ट दिशामें वे स्वयं मार्गदर्शन देंगे या किसीके समीप भेज देंगे, यह उस विद्या तथा आगतके अधिकारपर निर्भर करता था।

इन महापुरुषोंके सांनिध्यका फल हुआ कि ब्राह्मण युवकोंको अनेक अकल्पित विद्याएँ प्राप्त हुईं। उपवेदों और वेदाङ्गका व्यापक अध्ययन आरम्भ हो गया। उनमें भी अधिकारके अनुसार शाखाएँ फैलने लगीं।

वैश्य भी अपने बालकोंको इन योगसिद्ध महापुरुषोंकी सेवामें रखने लगे। अन्ततः अथर्ववेद, स्थापत्यवेद आदिका अधिक प्रयोजन उन्हें ही था।

यद्यपि तबतक क्षत्रियोंकी परम्परा प्रारम्भ नहीं हुई थी, किंतु मरु तथा प्रतीपके सक्रिय होते ही वह भी प्रारम्भ हो गयी। उनकी संतानोंको धनुर्वेद तथा शासन-नीतिकी शिक्षा भी प्रारम्भमें इन महापुरुषोंसे ही प्राप्त हुई।

ऐसा नहीं था कि ब्राह्मणकुमार केवल वेदके यज्ञादि अनुष्ठानों, कर्मकाण्ड-प्रकरणकी ही शिक्षा प्राप्त करते हों। वस्तुतः ब्राह्मणोंमें विद्या-बुभुत्सा बहुत प्रबल थी। अतः उनमें बहुत युवकोंने आयुका बड़ा भाग अध्ययनमें व्यतीत किया। अनेकोंने तो एकाधिक आचार्योंका शिष्यत्व स्वीकार करके अनेक विद्याओंमें अच्छी निपुणता प्राप्त की।

समाजकी सम्यक् प्रतिष्ठा हो जानेपर ब्राह्मणोंने अध्ययन, यजनके साथ अध्यापन एवं याजनको अपनी वृत्ति बनायी। यह इसीलिये सम्भव हुआ; क्योंकि उन्होंने सब विद्याओंका अध्ययन किया था।

उस समयतक यज्ञका अधिक विस्तार हुआ नहीं था। मनुष्योंकी जनसंख्या सीमित थी। जब ब्राह्मण अध्यापनमें व्यस्त हो गये और उनके आश्रित शिक्षार्थियोंके लिए आस-पास पर्याप्त फल-कंद मिलने कठिन हो गये, तब दान-ग्रहणको भी उन्होंने अपनी वृत्ति स्वीकार की; किंतु कभी भी दान लेना ब्राह्मणकी श्रेष्ठ वृत्तिके रूपमें स्वीकृत नहीं हुआ।

वैश्य युवकोंके अध्ययन और अध्यवसायका सुफल हुआ कि कुछ धातुएँ सुलभ हो गयीं। यद्यपि इसमें समय लगा और इनकी उपलब्धि बहुत ही सीमित थी, किंतु उस समय धातुओंका उपयोग भी अल्प ही था।

इनके उत्पादनका केवल सैद्धान्तिक ज्ञान मिला था योगसिद्ध महापुरुषोंसे। उन्होंने इनकी उपलब्धिके स्थल निर्दिष्ट किये थे और औषधियाँ सूचित कर दी थीं। उस समय तो औषधीय संयोगसे सामान्य काष्ठ या उपलोंके तापसे ही धातुओंको प्राप्त करना था।

पहले सूई-जैसी सामान्य उपयोगकी ही वस्तुएँ बनीं। आभूषणोंमें भी वैश्यवर्गने मणि-रत्नोंके साथ उनका उपयोग किया। ब्राह्मणवर्गकी स्त्रियाँ भी आभूषणोंकी ओरसे उदासीन ही रहीं।

धातुओंका उत्पादन और उपयोग भी तब बढ़ा, जब समाजमें क्षत्रियोंकी संतानोंने सुरक्षाका दायित्व सँभाला और सेवक-शूद्रवर्गका सहयोग प्राप्त हुआ।

रुई, ऊन और चमड़े (मृगचर्मादि) के वस्त्र भी प्रचलनमें धीरे-धीरे आये। यद्यपि तपस्वी ब्राह्मणोंको वल्कल और मृगचर्म ही प्रिय रहा। इनमें भी मृगचर्म पीछे सुलभ हुआ, जब क्षत्रियोंने आवश्यकता तथा योगसिद्ध पुरुषोंके आदेशको स्वीकार करके आखेट अपनाया। वे महापुरुष अनेक बार आदेश देते थे—'अत्यन्त वृद्ध, अपनी रक्षा तथा आहार-ग्रहणमें भी असमर्थ वनपशुको मार देना भी क्षत्रियके अनिवार्य कर्तव्यका अङ्ग है।'

योगसिद्ध महापुरुषोंकी कृपा, उनके सहयोगने वैश्यवर्गको स्थापत्यवेद की शिक्षा दी। फलतः वैश्योंके और आगे जाकर क्षत्रियोंके भी भवन बनने लगे। यद्यपि ये भवन भी आरम्भमें छोटे ही होते थे। स्थापत्यवेदका भी प्रस्तार धीरे-धीरे ही हुआ।■

■ विकासवादके क्रम-विकासका अन्तर यहाँ जान लेना चाहिये। जबतक सब सिद्ध पुरुष थे—सब पदार्थ संकल्पसे ही सुलभ थे, किंतु उनमें अन्तर्मुखता और वैराग्य होनेसे बाह्य वैभव उपेक्षणीय था। जैसे-जैसे बहिर्मुखता बढ़ती गयी, सिद्धि घटती गयी और बाह्य-विस्तार प्रिय होता गया।

मरु और प्रतीप-

'अब समय आ गया है कि तुम नीचे पवित्र भारतभूमिमें पहुँचो।' भगवान् व्यासने अपने बदरिकाश्रममें प्रतीपसे कहा—'भगवान् कल्किने भारतकी भूमि प्राय: बर्बरोंसे स्वच्छ कर दी है। अनेक स्थलोंपर कलाप-ग्रामके सिद्धयोगी निवास करने लगे हैं। अत: जो सामान्य व्यक्ति बचे हैं, वे तुम्हारे प्रलम्ब आकारसे अधिक आश्चर्यमें नहीं पड़ेंगे और न आतङ्कित होंगे।'

'भगवन्!' प्रतीप उठ खड़े हुए। उन्होंने व्यासजीके चरणोंमें प्रणाम किया। हाथ जोड़कर वे खड़े हो गये। उनसे बोला नहीं जा रहा था, किंतु स्पष्ट था कि वे आदेश चाहते थे।

'तुम प्रयाग पहुँचो। वह इस समाप्त होनेवाली चतुर्युगीमें भी पुरूरवाकी राजधानी रही है और तीर्थराज तो है ही।' व्यासजीने कहा—'मरुको लेकर मैं भी शीघ्र आ रहा हूँ; किंतु मरु अपने कुलकी राजधानी अयोध्यामें अपना निवास बनावेंगे।'

'हम-दोनों आरम्भ होनेवाले सतयुगकी समाप्तितक यहाँ श्रीचरणोंमें नहीं रह सकते?' मरुने प्रश्न किया—'सतयुगमें तो समाज ही स्वल्प होगा और सात्त्विक होगा। उसे शासककी आवश्यकता तो है नहीं। वह आत्म-शासित रहेगा। तब क्षत्रिय क्या करेगा ऐसे समाजके मध्य?'

'वत्स! तुम भूलते हो कि वैश्य और शूद्र भी हैं इस समय धरापर। केवल ब्राह्मण ही नहीं हैं।' व्यासजीने समझाया—'जो अवशिष्ट बर्बरोंसे संतान उत्पन्न हो रही है, वह कल्किके प्रभावसे सात्त्विक तो हो रही है,■

■ अथ तेषां भविष्यन्ति मनांसि विशदानि वै।
वासुदेवाङ्गरागाति पुण्यगन्धानिलस्पृशाम ॥
तेषां प्रजा विसर्गश्च स्थविष्ठः सम्भविष्यति।
वासुदेवे भगवति सत्त्वमूर्तौ हृदि स्थिते ॥

—भागवत १२।२।२२

किंतु उसमें उसकी परम्पराके संस्कार अभी सुप्त हैं। उनके सर्वथा क्षीण होनेमें समय लगेगा। उन्हें संयममें रखनेके लिए शासकका आतङ्क आवश्यक है और वैश्य यद्यपि अभी संयमी-श्रद्धालु हैं, किंतु लोभके बिना व्यापार हुआ नहीं करता। संग्रह-परिग्रह वैश्यके लिए विहित है, लेकिन उसका लोभ तथा संग्रह भी सीमामें रहे, यह शासनके बिना सम्भव नहीं है। शासनका आतङ्क नहीं रहनेपर शूद्र शीघ्र दस्यु बन जायँगे। उनके पूर्वज तो दस्यु ही थे, अतः वे संस्कार उभड़ पड़ेंगे।'

मरुने मस्तक झुका लिया। उन्होंने अपने पदोंमें प्रणत होते प्रतीपको उठाकर हृदयसे लगाया।

'प्रतीप ! तुम दोनोंको स्मरण रखना है कि तुम सृष्टिकर्ताकी ओरसे इस सतयुगमें क्षत्रिय-वंशके विस्तारके लिए सुरक्षित रखे गये।' भगवान् व्यासने अब स्पष्ट आदेश दिया—'तुम जानते हो कि कलापग्राममें सामान्य मानवका प्रवेश नहीं है। अतः अब तुम दोनोंको ही पत्नी-परिग्रहमें संकोच नहीं करना चाहिये। समयकी आवश्यकता संतान-वृद्धि है। अतः उन्हें अस्वीकार मत करना, जो तुमसे स्वीकार करनेकी प्रार्थना करें।'

स्पष्ट हो गया कि एकपत्नीव्रत भी चलनेवाला नहीं है। भगवान् व्यासने ही समझा दिया कि मरु और प्रतीपकी संतानोंमें परस्पर विवाह होगा और गोत्रकी प्रवृत्ति दोनोंके पुत्रोंसे आगे प्रचलित होगी।

प्रतीप उसी दिन वहाँसे चल पड़े। उन्हें एकाकी ही मार्ग पार करना था। उस समय कोई मार्ग तो था नहीं। अलकनन्दाके तटके सहारे ही वे आगे बढ़ते आये। प्रयागतक पहुँचनेमें उन्हें सरिता-तटका मार्ग ही मिला। इसमें जलकी सुविधा सुलभ थी और आहारके लिए समीपके वनोंसे फल भी मिल जाते थे।

प्रतीपको मार्गमें ही कुछ ऐसे लोग मिल गये जिन्हें संस्कारहीन होनेके कारण शूद्रके अतिरिक्त दूसरी संज्ञा नहीं दी जा सकती थी। ये वनोंसे निकलकर डरते-डरते समीप आये थे और संकेतसे शरणागति चाहते थे। हाथ जोड़ते थे और बार-बार पृथ्वीपर सिर रखते थे। उनकी असंस्कृत

भाषा प्रतीपकी समझमें तो नहीं आयी; किंतु उनका संकेत समझकर प्रतीपने उन्हें साथ ले लिया। ये अच्छे सेवक सिद्ध हुए।

इन लोगोके साथ स्त्रियाँ भी थीं और शिशु भी थे। अवश्य ही वृद्ध पुरुष प्रायः नहीं थे। जो वृद्धा स्त्रियाँ थीं, वे बहुत बौनी थीं। यद्यपि उन बौनी स्त्रियोंकी संतानें पुत्र तथा कन्याएँ भी आकारमें उनसे पर्याप्त बड़ी थीं, किंतु प्रतीपको तो वे भी बौने ही लगते थे। अवश्य ही उनकी तीसरी पीढ़ीके शिशु प्रतीपको सामान्य आकारके होंगे, यह सम्भव लगा।

बात यह थी कि कल्किके आतङ्कसे बहुत-सी बर्बर स्त्रियाँ वनोंमें भाग गयी थीं। पुरुष कम ही भाग सके और जो भागे भी, वे वृद्ध थे। वे पहले ही परलोक जा चुके थे। भूकम्प, महामारी तथा वनपशुसे जो बच गये, उनमें सगर्भा स्त्रियोंकी संतानें माता-पितासे आकारमें दुगुनी ऊँची होने लगीं। अब तो वे भी युवा हो चुके थे और उनके भी सतानें थीं।

यह वर्ग बहुत आतङ्कित था। इनमें यह प्रवाद प्रचलित था कि श्वेत पर्वताकार अश्वपर बैठा महाकाल सबको मारता घूम रहा है। उसीके संकेतसे भूकम्प आते हैं, महामारी आती हैं और नहीं तो वह अपने किसी दूतको ही भयानक वनपशुके रूपमें भेज देता है।

यह वर्ग भी पानीके पासके ही वनोंमें बसा था। उनमें किसीने प्रतीपको देख लिया दूरसे। पहले तो प्रतीपके आकारने आतङ्कित किया, भयके कारण ही जब उन्होंने छिपे-छिपे प्रतीपका पीछा किया तो प्रतीपकी शान्त चेष्टाने उन्हें आश्वस्त किया।

'ऊपर आकाशसे कोई देवता उतर आया है।' उन असभ्य लोगोंमें यह कल्पना फैली—'वह उस महाकालके अश्वसे ऊँचा और सशक्त है। वह अवश्य रक्षा कर सकता है।'

इस आशासे कि हमारी रक्षा हो जायगी, वे प्रतीपके समीप आये थे। पहले एक-दो और फिर सम्पूर्ण समूह। यह समूह भी बढ़ता ही गया था। प्रतीप जब प्रयाग पहुँचे तो उनके साथ इन सेवकोंका बड़ा समुदाय

था। अतः सुरसरिके समीप इन सबकी झोंपड़ियाँ बनीं तो उनके मध्य प्रतीपका कच्चा भवन भी राजभवन दीखने लगा। पीछे तो इस ग्रामके आकर्षणसे वहाँ वैश्य आने लगे। उनमें स्थापत्यवेदके भी ज्ञाता आये। प्रतीपको पक्का राजसदन उन्होंने बनाकर दिया।

अचानक एक दिन एक देवता आगये प्रतीपके पास। उन्होंने प्रतीपको अपनी कन्या अर्पित कर दी। आगे प्रतीपने गन्धर्व, नाग तथा वैश्य कन्याओंसे भी विवाह किया। पृथ्वीपर भारतभूमि सदासे सुरोंके लिए भी स्पृहणीय रही है। इस धन्य धराके सतयुगके प्रारम्भमें ही जो शासक होने आ गये, उनसे सम्बन्ध स्थापित करनेका गौरव कौन छोड़ना चाहता? इस स्पर्धामें प्रतीपको और आगे मरुको भी अनेक कन्याएँ स्वीकार करनी पड़ीं।

मरुको लेकर भगवान् व्यास भी कुछ ही काल पश्चात् आये। मरुको भी मार्गमें सेवकोंका समूह मिला और प्रतीपकी अपेक्षा अधिक मिला, सरलतासे मिला। इसके दो कारण थे, एक तो प्रतीपके पहले आनेसे उन वनाश्रित लोगोंमें देवताके आनेका समाचार दूर-दूरतक फैल चुका था। वे उत्सुक होकर उस देवताको ढूँढ़ने लगे थे। दूसरे भगवान् व्यासके लिए उनलोगोंकी भाषा अगम्य नहीं थी। अतः उनसे सम्पर्क शीघ्र हो गया। व्यासजीने उन्हें अच्छी प्रकार आश्वस्त कर दिया।

मरुका आकार प्रतीपसे बहुत ऊँचा था, किंतु प्रतीपको जिन्होंने देखा, वे उनके साथ चले गये थे। मरुके समीप जो पहुँचे, उन्हें तो मरु ही वे अत्युच्चाकार देवता जान पड़े और व्यासजीके कारण वे शीघ्र आश्वस्त भी हो गये।

व्यासजीने नीचे आकर सरयूके तटका मार्ग अपनाया था। इस प्रकार वे मरुके साथ अयोध्या आये। यहाँ साथ आये सेवकोंके द्वारा मरुकी राजधानी स्थापित हुई। मरुको यहाँ छोड़कर व्यासजी यात्रा करने निकल पड़े।

मरुको भी प्रथम पत्नी देवकन्या ही प्राप्त हुई। प्रतीपके समान उनको भी अनेक विवाह करने पड़े। उनका आश्रय भी अनेक वैश्यकुलोंको प्राप्त

हुआ। अतः उनकी राजधानी भी समृद्ध हो गयी। उनका सदन भी पक्का बन गया।

मरु और प्रतीप, दोनोंके समीप अपने धनुष, त्रोण तथा दूसरे शस्त्र थे। दोनोंने कलापग्राममें अपने शस्त्र साथ रखे थे और व्यासजीके आदेशसे दोनों अपने अस्त्र-शस्त्र साथ ले आये थे।

दोनोंके साथ जो सेवक-समूह आया था, उनमें अनेक युवक बहुत उत्साही थे। दोनों राजधानियोंमें जो व्यापारी बस गये या आते थे, उन्हें सेवकोंकी आवश्यकता तो थी ही और सेवक उस समय वस्तु देकर मिल नहीं सकते थे। केवल विद्याके प्रलोभनसे सेवक पाये जा सकते थे। भले वे सीमित समय ही साथ रहते, किंतु नवीन-नवीन आते रह सकते थे। अतः वैश्योंने भवन-निर्माण, धातु उत्पादनादि अनेक विद्याएँ इस शूद्रवर्गके युवकोंको सिखलाना प्रारम्भ किया। अनेकोंको मरु तथा प्रतीपने भी इस प्रकारकी शिक्षा-ग्रहणमें नियुक्त किया। इस प्रक्रियाने अनेक श्रम-साध्य कलाएँ, विद्याएँ शूद्रोंमें प्रचलित कर दीं और पीछे उन कार्योंके अनुसार उनमें जातियाँ बनती चली गयीं। जैसे व्यापारभेदसे वैश्योंमें जातियाँ बनने लगी थीं।

भगवान् व्यास-

अयोध्यामें मरुको छोड़कर भगवान् व्यासने पहले अपने सहयोगियोंसे सम्पर्क स्थापित किया। आगामी मन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें-से दीप्तिमान्ने कल्किका आचार्यत्व ही स्वीकार कर लिया था। परशुरामजी उनके शस्त्र-गुरु थे। अश्वत्थामा और कृपाचार्य सक्रिय सहयोग दे ही रहे थे। अब केवल महर्षि गालव और ऋष्यशृङ्गके आश्रमोंतक व्यासजीको जाना था।

उन दोनों महर्षियोंने भगवान् व्यासका सत्कार किया और उनकी सम्मति स्वीकार कर ली। ऋष्यशृङ्ग अयोध्याके समीप आश्रम बनाकर निवास करने आ गये और महर्षि गालवने प्रयागके भरद्वाज आश्रमका स्थान पवित्र किया। इस प्रकार मरु और प्रतीप दोनोंको निर्देशक प्राप्त हो गये।

वर्तमान मन्वन्तरके सप्तर्षि प्रजापति कश्यप, महर्षि अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि और भरद्वाज तो अपने सप्तर्षि-मण्डलमें स्थित रहकर धराकी ज्ञान एवं धर्म-परम्पराको संरक्षण देनेवाले हैं। सतयुगके प्रारम्भमें उनमें कोई पृथ्वीपर आ भी जायँ तो यहाँ त्रेताके पश्चात् रहनेवाले नहीं और स्थापित राजकुलोंको तो अत्यन्त दीर्घजीवी ऋषि-संरक्षक, नियन्त्रक चाहिये।

पौरोहित्यके बिना गृहस्थका धर्म सुरक्षित रहना सम्भव नहीं है। विशेषकर क्षत्रिय और वैश्यका धर्म; क्योंकि शासन और व्यापारमें व्यस्त होनेपर इनको सामयिक कृत्योंका ठीक समयपर स्मरण रहेगा ही, यह सदा सम्भव नहीं।

सतयुगमें अवश्य ब्राह्मणोंको पुरोहितकी आवश्यकता नहीं होती; किंतु त्रेतादिमें उन्हें भी यह आवश्यकता होती है। सतयुगमें तो ब्राह्मण स्वयं अप्रमत्त साधन-संलग्न रहते हैं।

जीवोंके उद्धारके लिए स्वभावसे सचिन्त अतिशय कृपालु भगवान् व्यास न होते तो वेदोंके विभाजन तथा महाभारत एवं पुराणोंके निर्माणकी महती प्रवृत्ति ही क्यों अपनाते। अपने इसी जीव-दया स्वभावके कारण वे इस समय भी सक्रिय हो गये थे।

उस समय ब्राह्मणोंको किसी बाह्य सहायताकी आवश्यकता थी तो केवल इतनी ही कि उनमें विद्याओंको पानेकी प्रबल जिज्ञासा जाग गयी थी। उनको शिक्षककी आवश्यकता थी और इस कार्यके लिए पहले ही सिद्धयोगी स्थान-स्थानपर आकर स्थित हो गये थे। भगवान् व्यासने भी उचित अधिकारी जिज्ञासुको उसके योग्य आचार्यके पास पहुँचनेमें सहायता-की। उन्होंने किसीको प्रत्यक्ष निर्देश दिया, किसीको स्वप्नादेश।

क्षत्रियोंमें केवल दो थे, मरु और प्रतीप। क्षत्रियोंके सूर्य और चन्द्र-वंशका विस्तार इनकी ही संतानोंसे होना था। दोनों योगसिद्ध थे और दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता थे। दोनोंको दो महर्षियोंका संरक्षण व्यासजीने दे ही दिया था। उस समय सैनिकोंकी तो कोई आवश्यकता नहीं थी और देशमें कोई ऐसी समस्या भी नहीं थी कि अधिक शासक आवश्यक हों। शासककी स्थापना सावधानीको देखकर की गयी थी। अतः वन्यजनोंको संयममें रखनेके लिए उनका आतङ्क पर्याप्त था।

सहायताकी आवश्यकता मुख्यरूपसे व्यापारीवर्गको थी। इसके पुरुष व्यस्त रहते थे वस्तु-संग्रह तथा व्यापार-सम्बन्धी प्रयासमें। अतः इन्होंने स्त्रियों, बच्चों, वृद्धोंकी सुविधा, संरक्षण और अपने संग्रहके लिए भी स्थान-स्थानपर छोटी बस्तियाँ बनाली थीं। प्रायः यात्रामें रहनेके कारण इनके आचार, संस्कार शीघ्र शिथिल पड़ सकते थे।

दूसरी ओर उस समयका ब्राह्मणवर्ग अत्यन्त विरक्त था। निष्परिग्रह था और तपःप्रिय था। इसलिये भी वह अपनेसे सर्वथा विपरीत वृत्तिवाले संग्रही वैश्योंसे दूर पड़ गया था। उसे इस वर्गसे उदासीनता थी। इनका सम्पर्क उसे प्रिय नहीं था।

यद्यपि वैश्यवर्ग श्रद्धालु था, किंतु ब्राह्मण दान लेनेके पक्षमें नहीं थे। वे उपहार स्वीकार करनेका अवसर आवे, इसीसे बचते थे। अवश्य ही

विद्या-दानमें वे उदार थे। अतः वैश्य-बालकोंको अपना अन्तेवासी बनाना उन्होंने कभी अस्वीकार नहीं किया।

इतनेसे काम चलनेवाला नहीं था। अतएव कुछ ऐसे तपोधन ब्राह्मणोंको व्यासजीने वैश्योंकी बस्तियोंके पार्श्वमें बसनेको प्रस्तुत कर लिया, जिनकी अध्यापनमें अधिक रुचि थी और जो लोकहितको प्रमुखता देते थे।

ऐसे विप्रोंको यद्यपि पौरोहित्यके लिए प्रस्तुत करनेमें कठिनाई होती थी, किंतु यह समय और श्रमसाध्य कार्य भी भगवान् व्यासने सम्पन्न किया। वे उपयुक्त ब्राह्मणोंके बार-बार अतिथि हुए। उनके समझानेसे और उनका आदेश स्वीकार करके भी ब्राह्मणोंमें-से बहुतोंने वैश्योंका पौरोहित्य प्रारम्भ किया।

वैश्य बस्तियोंके समीप वनोंमें बसने और अपना गुरुकुल स्थापित करनेवालोंको अनेक सुविधाएँ थीं। उनको अध्यापन तथा यजमानोंके संस्कार सम्पन्न करा देनेके अतिरिक्त अन्य कोई श्रम नहीं करना था। आश्रम-सेवा उनका विद्यार्थीवर्ग करता था और आवश्यक पदार्थ उनके यजमान पहुँचाते रहते थे।

बहुत पीछे जाकर वैश्योंकी बस्तियाँ दूर-दूर बसीं। समुद्री व्यापार तो तब प्रारम्भ हुआ—प्रायः त्रेतामें प्रारम्भ हुआ, जब राजकुलके कुमार किन्हीं कारणोंसे निर्वासित होकर भारतसे बाहर बसनेको विवश हुए। उनके साथ उनका सेवकवर्ग भी गया। अवश्य ही उनके बहुत पूर्व बर्बरोंके अनेक समूह कल्किके आतङ्कसे त्रस्त होकर भारतकी विविध दिशाओंमें भाग गये थे और पृथ्वीके अनेक प्रदेशोंमें फैलते गये थे।

कल्किके आतङ्कसे त्रस्त वनमें भागे बर्बरोंके परिवारोंको भी आश्वासनकी आवश्यकता थी। भगवान् व्यासको अपनी यात्राओंके मध्य जहाँ भी ऐसा समूह मिला, उसे समझाकर उन्होंने किसी समीपकी वैश्य-बस्तीतक पहुँचा दिया।

इससे दो काम एक साथ हुए। वैश्योंको सेवक प्राप्त हो गये। इसकी उन्हें सबसे अधिक आवश्यकता थी। साथ ही वनवासी लोग आश्वस्त होकर

समाजमें शान्तिपूर्वक रहने लगे। उनके अनेक रीति-रिवाज परिवर्तित हुए। उनमें भी संस्कारिता आयी। उनमें भी अनेकोंने कई प्रकारके व्यवसाय तथा उत्पादन प्रारम्भ किये। इस प्रकार उनमें भी अनेक जातियाँ बन गयीं।

कल्किके संहारसे जो बचे थे, कलियुगके अन्तके वर्णसंकर संस्कारहीन लोगोंकी ही वे संतान थे। अतः उन्हें ब्राह्मणों तथा वैश्योंने भी शूद्र स्वीकार किया। उनको सेवाका कार्य दिया। उनमें जो बुद्धिमान् थे, उन्होंने अनेक शिल्पोंको जन्म दिया। उनकी पृथक् जाति बन गयी।

इस प्रकार वनमें भागे बर्बर लोगोंके तीन प्रमुख भाग हो गये। एक भाग मरु-प्रतीप अथवा वैश्योंमेंसे किन्हींके सम्पर्कमें आकर उनकी सेवामें लग गया। वह शूद्र माना गया। एक भाग गहन काननोंमें ही बना रहा। उसमें भी अनेक वन्य जातियाँ हो गयीं। तीसरा भाग, जो भारतसे ही बाहर चला गया, विभिन्न दिशाओंसे गया और विभिन्न स्थानोंमें बसा। इसमें भी बहुत-सी जातियाँ बनीं। भारतीय निर्वासित राजकुमारोंका इन्हींसे सम्पर्क हुआ, क्योंकि ब्राह्मण भारतसे बाहर जाते ही नहीं थे, उनके संरक्षणसे रहित वन्य जातियाँ और भारतके बाहरकी जातियाँ भी संस्कारहीन बनी रहीं।

भगवान् व्यासने पुनः कुछ शिष्य बनाये। वैसे तो पुराण सृष्टिकर्ताके द्वारा सृष्टिके प्रारम्भमें ही ऋषियोंको प्राप्त हुए, उनका बीज श्रुतियोंमें ही है और इतिहास-पुराणके उपबृंहणके बिना श्रुति समझमें आती नहीं; किंतु व्यासजीने इस पिछले द्वापरमें पुराणोंका सम्पादन किया था। अब कलियुगके अन्तमें समस्त शास्त्रोंका लोप हो गया था। अतः पुराणोंके पुनः अध्यापनकी आवश्यकता उत्पन्न हो गयी थी।

व्यासजीने पर्याप्त समयतक पर्यटन किया। उन्हें सतयुगके श्रीगणेशसे पूर्व संधिकालमें चारों वर्णोंकी स्थापना, सहायता, सुविधा—सब व्यवस्थित करनी थी और यह दायित्व उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था। अन्ततः कलियुगमें भी तो अनेक आचार्योंको वे आशीर्वाद और मार्ग-दर्शन देते रहे थे।

भगवान् व्यासकी ही कृपासे महाभारत और पुराण पहले भी सर्व-सामान्यको प्राप्त हुए थे और उस समय भी उन्होंने ही कृपा करके उनका

अध्यापन किया। उस समयके परम मेधावी श्रुतधर (एकबार सुनकर ही स्मरण रखनेवाले) अधिकारी शिष्योंको इतिहास-पुराण केवल एकबार व्यासजीको सुना देना था। पीछे तो उनके शिष्योंकी परम्परा चलती रही।

भगवान् व्यास सतयुगके प्रारम्भमें प्रधान शास्त्र-प्रवर्तक तो हुए ही, उन्होंने ही कलिको भी शान्त किया। अश्वत्थामाको उनके दीर्घकालीन सत्संगने ही सप्तर्षियोंमें सम्मिलित होनेके योग्य बनाया।

मरु और प्रतीपसे भी व्यासजी समय-समयपर मिलते रहे। कहना यह चाहिये कि दोनोंकी शासन-व्यवस्थाका आरम्भ भी व्यासजीके ही निर्देश संरक्षणमें हुआ।

अश्वत्थामाका शस्त्र-त्याग–

अश्वत्थामाको अपना अपमान सहनेका अभ्यास नहीं था। उसे केवल महाभारत-युद्धके अन्तमें जब उसने द्रौपदीके सोते हुए पाँचों पुत्रोंको मारा, अर्जुनने पकड़ा था। द्रौपदीने तो अपने पाँचों पुत्रोंके उस हत्यारेको प्राण-दान करनेकी प्रार्थना की थी, किंतु श्रीकृष्णके संकेतपर अर्जुनने उसके केश तलवारसे काट लिये। उसकी शिरोमणि छीन ली और उसे अपमानित करके शिविरसे निकाल दिया। यह अपमान असह्य लगा था द्रोणपुत्रको। पाण्डवोंके वंशका ही विनाश करनेके लिए उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग कर दिया था। यह दूसरी बात है कि श्रीकृष्णने अपने अचिन्त्य प्रभावसे पाण्डवोंको और उनके वंशधर गर्भस्थ परीक्षित्‌को भी बचा लिया। अश्वत्थामाको प्रशप्त होना पड़ा।

अश्वत्थामाके मनमें आक्रोश था। उसे अपने किसी अपकर्मपर खेद नहीं था। उसे लगा ही नहीं कि उसने कोई अपकर्म किया। अपनी अस-फलता और अर्जुनके द्वारा हुए अपमानसे वह अत्यन्त क्षुब्ध-चिड़चिड़ा हो उठा था। इसपर अत्यन्त दीर्घकालतक उसे सर्वथा एकाकी रहना पड़ा। इस स्थितिने भी उसे बहुत अधिक चिड़चिड़ा बना दिया था।

कौरव तथा पाण्डव-सभी जिसका सम्मान करते थे, उस आचार्य-पुत्रको जन्मसे ही दूसरोंके द्वारा सम्मानित होनेका अभ्यास था। कोई उसे अपमानित भी कर सकता है, यह उसकी कल्पना ही नहीं थी। ऐसी अवस्थामें जब अर्जुनने उसे अपमानित किया, उसका अपना अपराध उसकी दृष्टिमें नगण्य हो गया। वह अत्युग्र हो उठा।

वह आक्रोश एकान्त-सेवन तथा रोगने बढ़ाया ही था। ऐसी ही मनोदशामें अश्वत्थामाने भगवान् कल्किका साक्षात्कार किया था और भू-भार-हरणके कार्यमें उनकी सहायता करने कृपाचार्यके साथ निकला था।

अत्यन्त क्षुद्र बर्बर बौनोंने अचानक ही आक्रमण कर दिया था। उन बौनोंके आक्रमणसे आघात तो कम ही लगा, किंतु अपमान-बोध बहुत

अधिक हुआ। वैसे भी महाभारत-युद्धमें दिव्यास्त्र-प्रयोगकी मर्यादा उसके पिता द्रोणाचार्यने ही नहीं मानी थी। ऋषियोंको उनकी भर्त्सना करनी पड़ती थी। उनके पुत्रके मनपर तो इस मर्यादाका जैसे बन्धन था ही नहीं। बर्बरोंके विरुद्ध वह बराबर दिव्यास्त्रका ही प्रयोग करता रहा था।

बहुत बड़े विनाशकाकर्ता भी क्रूर ही हो, यह आवश्यक नहीं है। परोक्ष-महासंहार भी मनुष्यको कम ही प्रभावित करता है। जिन राष्ट्र-नायकों अथवा महासेनापतियोंने मनुष्योंके विरुद्ध परमाणुबमके प्रयोगका आदेश दिया, वे पीछे भी अपने कार्यको उचित ही ठहराते रहे; परमाणुबम डालनेवाले उनके हवाई जहाजके उड़ाके प्रायः पागल हो गये; क्योंकि वह महाविनाश उन्होंने प्रत्यक्ष देखा। अश्वत्थामाकी भी यही स्थिति थी। उसके दिव्यास्त्रोंकी ज्वालामें बर्बरोंका समूह भस्म होता रहा; किंतु वह महासंहार अपना स्वरूप अश्वत्थामाको दिखलाता नहीं था। दावाग्निसे दूर खड़ा व्यक्ति कहाँ देख पाता है कि वनपशु कैसे तड़प-तड़पकर ज्वालामें जलते हैं।

सृष्टिकर्ताका विधान बहुत अद्भुत है। उसे स्वर्णको तपाना अच्छी प्रकार आता है। अश्वत्थामा अमर, अश्वत्थामा परम अस्त्रज्ञ, अश्वत्थामाको आगामी मन्वन्तरमें सप्तर्षि होना है। तब क्या ऐसा क्रोधी, चिड़चिड़ा अश्वत्थामा सप्तर्षि-मण्डलमें स्थान पा सकता था? उसे परिशुद्ध करनेका संयोग सृष्टिकर्ताने उपस्थित किया।

बर्बर बार-बार, प्रायः प्रत्येक नवीन स्थानपर प्रथम आक्रमण करते थे। अश्वत्थामा पहली बारके पश्चात् भूल ही गया दिव्यास्त्र-प्रयोग करते समय उस अस्त्रके प्रभावको सीमित करना। उसे स्मरण ही नहीं रहा कि बर्बरोंके प्रदेशमें पीछे कहीं कोई रक्षणीय भी हो सकते हैं।

'त्राहि! त्राहि!!' कहते जब उस दिन वह महिला अचानक अश्वत्थामाके पैरोंपर ही आ गिरी तो अश्वत्थामा स्तब्ध रह गये। अत्यन्त शीघ्रतामें अस्त्रका उपसंहार करके भी वे उसे बचा नहीं सके। उसका झुलसकर काला पड़ गया शरीर, स्थान-स्थानसे झाँकता बीभत्स मांस, पूरा देह जो फफोला बनकर फूट गया था और उससे बहते दुर्गन्धित द्रवने प्रायः अश्वत्थामाके पैर आर्द्र कर दिये थे।

'यह तो बर्बर नहीं है !' बहुत देर पीछे अश्वत्थामा बोल सके थे । वे वहाँसे भाग जाना चाहते थे, किंतु उनके पैर जैसे पृथ्वीसे जकड़ गये थे । जैसे उस जली, मरी स्त्रीने उन्हें कीलित करके अपना कुत्सित शव भली प्रकार देखनेको विवश कर दिया था ।

'तुमने मुझको मारा ? तुम्हारा मैंने क्या अहित किया था ?' जैसे कोई अलक्ष्य क्रन्दन करता उनसे पूछ रहा था—'तुम आमिषाशी पिशाच हो ? तुमने अपने आहारके लिए मुझे भूना है ? लो, भली प्रकार इस शवका भक्षण करो ! पेट भर लो इससे !'

अश्वत्थामाने रात्रिमें सोते समय पाण्डव-शिविरके लोगोंका बहुत क्रूरतापूर्वक संहार किया था; किंतु उन्हें आजकी जैसी ग्लानि, इतनी अन्त.पीड़ा कभी नहीं हुई थी । वह सम्मुख पड़ा शव जैसे उन्हें ही भक्षण कर लेगा ।

'यह तो बर्बर नहीं थी ।' अश्वत्थामाने बड़े कष्टसे कहा । उन्होंने कठिनाईसे सिर घुमाकर अपने मातुल कृपाचार्यको देखना चाहा । तब उन्हें पता लगा कि कृपाचार्य साथ तो हैं, किंतु पर्याप्त दूर पीछे खड़े हैं ।

'वह सुरक्षित स्थलकी ब्राह्मण ही थी ।' बड़े तिरस्कारपूर्ण ढंगसे, दूसरी ओर मुख करके कृपाचार्यने कहा—'पिछले कई दिनोंसे तुमने मुझे दो शब्द भी कहनेका अवसर भी दिया है ? मैं केवल तुम्हें यह सूचना देने अबतक साथ था ।'

'मातुल !' अश्वत्थामा चीत्कार कर उठे । उनके उस चीत्कारमें जो प्राणान्तक पीड़ा थी, उसीसे प्रभावित होकर कृपाचार्यने तत्काल कहीं प्रस्थात नहीं किया । अश्वत्थामाने रुदन भरे व्यथित स्वरमें कहा—'मैं स्त्री-हन्ता, ब्रह्महत्यारा बन गया हूँ, इसलिये मेरा परित्याग मत करो !'

'यह सगर्भा थी !' कृपाचार्यने अत्यन्त कठोर स्वरमें कहा—'और यह एकाकिनी नहीं है । ऐसी सहस्रशः ब्राह्मणियों, बालकों, विप्रोंको तुमने इसी प्रकार जीवित जलाया है ।'

'मातुल !' अश्वत्थामा फिर चीखे और वहीं, उस शवके समीप सिर पकड़कर बैठ गये।

'मुझे अत्यन्त लज्जा है कि तुम मेरे भागिनेय हो।' कृपाचार्य निष्करुण हो गये थे—'तुम्हारे साथ रहनेसे इन असंख्य हत्याओंमें मैं भी पाप-भागी हूँ। मुझे प्रायश्चित करना है।'

'असंख्य हत्याएँ !' अश्वत्थामाका सिर घूम रहा था। समस्त पृथ्वी उन्हें घूमती लगती थी।

'क्यों ? तुम्हें ज्ञात नहीं था कि पृथ्वीके प्रायः प्रत्येक महाद्वीपमें सुरक्षित स्थल हैं ?' कृपाचार्यने कठोर स्वरमें ही कहा–'तुम नहीं जानते थे कि ऐसे स्थलोंमें सात्त्विक, सदाचारनिष्ठ ब्राह्मण बसते हैं ? तुमने अस्त्र-प्रयोग करते समय मनुष्यमात्रके वधका संकल्प नहीं किया था ? तुम्हारे समीप दिव्यास्त्र-ज्ञान है, अतः तुम्हें सबका संहार ही सूझता है ! तुम्हारा अहंकार ही सब-कुछ है ?'

'मैं इस योग्य नहीं हूँ कि आपसे अब साथ रहनेको कहनेका साहस कर सकूँ।' अश्वत्थामाने कहा–'केवल इतनी याचना करता हूँ कि मुझे अब त्याग करनेसे पूर्व करणीयका निर्देश करते जायँ।'

'तुम्हें प्रायश्चित्त बतलानेका कदर्य कार्य तो अब करना ही पड़ेगा !' कृपाचार्यका स्वर किंचित् ही कम कठोर हुआ—'इस नारीका कोई स्वजन शेष नहीं है। अतः अपनेद्वारा मारी गयी इस अबलाका पहले अग्नि-संस्कार करो !'

'कर सको तो इसी क्षणसे शस्त्र-त्याग कर दो ! तुम ब्राह्मण हो, क्षमा तुम्हें शोभित करेगी।' कृपाचार्य जाते-जाते कह गये–'तुम्हें अमरत्वका वरदान प्राप्त है, अतः कोई मरणान्त प्रायश्चित्त तुम्हारे लिए सम्भव नहीं है। अब आर्त-प्राणियोंका परित्राण-व्रत लो ! अनाहार रहते अहर्निश त्रिपदा गायत्रीका जप करो ! तुम्हारी शुद्धि हुई या नहीं, यह तो भगवान् बादरायण ही कभी मिलकर तुमको सूचित करेंगे।'

'आप इतना देख जायँ कि मैं आज्ञा-पालन कर रहा हूं ।' अश्वत्थामाने धनुष फेंक दिया । अपना त्रोण भी उन्होंने भारके समान उतारा और दूर फेंक दिया ।

'मूर्ख !' कृपाचार्यने इतनेपर भी भर्त्सना की–'ये किसी अनधिकारीके करोंमें पड़ सकते हैं । तेरे अस्थिर चित्तमें ही इन्हें पुनः प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा उठ खड़ी हो सकती है । इन्हें उठा और इस नारीके अग्नि-संस्कारके समय उसी चितामें चढ़ा दे । इससे ये सम्पूर्ण भस्म न भी हुए तो इनका दिव्यत्व समाप्त हो जायगा ।'

कृपाचार्य तो चले गये; किंतु अश्वत्थामा उठ खड़े हुए । उन्होंने सबसे पहले उस नारीके शवको प्रणाम किया—'मातः ! इस अधमको क्षमा करो ! आपने प्राण देकर भी इस कुपथगामीको सन्मार्ग सुझाया है; अत. मैं आपका शिष्य-पुत्र ही हूँ ।'

अश्वत्थामने काष्ठ-चयन किया और बहुत सावधानीसे अरणि-मन्थन करके अग्नि प्रकट की । श्रद्धासहित उस नारी-शवको उन्होंने चितामें चढ़ाया और अपना धनुष, त्रोण तथा खड्ग भी उसी चिताग्निको समर्पित कर दिया । उनमें अवशिष्ट क्षात्रतेज वहीं चितामें चढ़ चुका ।

नवीन प्रजा–

अतर्कित आकार या वस्तु यदि अपनी अपेक्षा बहुत बड़ी हो तो आतङ्कका कारण बन जाती है। भगवान् कल्किके सम्बन्धमें यही बात बर्बर वामनोंके विषयमें बनी। उनका आकार वामनोंकी अपेक्षा बहुत बड़ा था और अश्वपर उनका आरूढ़ होना तो उन सबोंके लिए अद्भुत ही था। अतः कल्कि भले उनके समीप निरपेक्ष ही निकले हों; किंतु उनमें जो अपनेको राजा कहते-मानते थे, उन्होंने कल्किको आक्रमणकारी ही माना और प्रथम प्रतिरोध करनेमें अपना कुशल समझा।

उन बर्बरोंके दोषसे ही कल्कि उनको काटने या अश्वसे कुचलनेको विवश हुए। कल्किका यह रूप इतना भयानक था कि उसे भूलना सम्भव नहीं था। जो बर्बरोंके बच्चे, वृद्ध, स्त्रियाँ और आहत बचे भी, वे भयके कारण वनोंमें भाग गये। वहाँ भी उनमें बहुत मरे। कुछ महामारीसे अथवा अपने शरीरपर लगे आघातोंसे मरे। वनके क्रूर पशुओंने भी उनका आखेट किया।

इतने सबके पश्चात् जो शेष रह गये, उनको कल्किका वह संहारक स्वरूप कैसे भूल जाता। वे भयग्रस्त थे। उन्हें लगता था कि महामारी और वनपशु भी कल्कि ही भेजते हैं। वे नींदमें भी चौंक-चौंक पड़ते थे।

करवाल-हस्त, खुले केश, अरुणनेत्र कल्कि उन्हें अङ्गारवर्ण ही लगे थे और उनका अश्व उड़ता लगा था। उन्हें लगता था कि वे किसी क्षण आधमकेंगे और अश्वसे कुचलने या अपनी करवालसे काटने लगेंगे।

कोई अत्यन्त संयमी साधक भी सप्रयत्न इतना प्रगाढ़ ध्यान नहीं कर सकेगा, जैसा ध्यान कल्किका उन भय-ग्रस्त भागे लोगोंके मनमें बलात् बैठ गया था।

आप स्वर्णकी कालिका मूर्ति बनावें या महाकाल मूर्ति; किंतु स्वर्ण क्या आकार-परिवर्तनसे अपनी शुद्धता और गुण छोड़ देगा? कल्कि भले

भयके कारण उनके अन्तःकरणमें आ बैठे थे, पर वे भगवान् थे या नहीं ? किसी भी वृत्तिसे सत्त्वमूर्ति श्रीहरि हृदयमें आवेंगे तो वहाँ कल्मष, तमोगुण बचा रहेगा ?

अवश्य भयकी भावनासे भगवान् मनमें आये तो अशान्ति बनी रही, किंतु अनजानमें ही उस अशान्तिके तापने समस्त पाप ध्वस्त कर दिये। जन्म-जन्मके, वंश-परम्पराके कुसंस्कार जल गये।

हृदय शुद्ध हो गया तो अशान्ति भी कबतक शेष रहती। 'कल्कि वे अश्वारूढ़ कालपुरुष अब नहीं आवेंगे। सम्भवतः वे जैसे अकस्मात् आकाशसे उतर आये थे, वैसे ही अपने लोक चले गये।' यह अनुमान उन अवशेष वन्य बर्बरोंमें पुष्ट होता गया। वे वनमें सामान्य जीवन व्यतीत करने लगे।

इसका विलक्षण सुफल हुआ। कल्किके प्रगाढ़ स्मरणसे शुद्ध उनके हृदयके कारण उनकी शारीरिक स्थितिमें तो प्रत्यक्ष परिवर्तन नहीं हुआ, किंतु उनकी संतानें जो हुईं, वे आकारमें माता-पितासे द्विगुणसे भी अधिक बड़ी हुईं।

नवोत्पन्न ये शिशु जैसे-जैसे बड़े होते गये, यह भी सिद्ध होता गया कि उनका स्वभाव भी अपनी पैतृक परम्परासे पृथक् हो गया है। वे सहज शान्त, विनम्र और श्रमशील हुए। उन्हें पशुओंके प्रति भी प्रेम हो गया। आखेटसे उनकी अरुचि हो गयी।

इन नवीन संतानोंका शरीर ही माता-पितासे बड़ा नहीं था, ये दीर्घायु भी हुए और बुद्धिमान् भी। माता-पितासे और अपने समीपके सब वृद्धोंसे इन्होंने कल्किका वर्णन सुना। बहुत भयावह वर्णन था। सब इन्हें आतङ्कित ही करते थे; किंतु उन वृद्धोंकी परम्परा शीघ्र समाप्त हो गयी।

आपको स्मरण ही होगा कि कलियुगके अन्तमें मनुष्योंकी परमायु बीस-तीस वर्ष रह गयी थी। सामान्यायु पन्द्रह वर्षके लगभग। अतः इन सबकी संतानें जब पाँचसे दस वर्षतककी आयुकी थीं, सब वृद्ध स्वयं परलोक-वासी हो गये।

वनमें बसे उन लोगोंके ये पाँचसे दस वर्षकी आयुके बच्चे। माता-पिताके समान यदि ये भी अल्पायु होते तो इनका शरीर भी शीघ्र बढ़ता और मस्तिष्क भी पहले प्रौढ़ हो जाता; किंतु ये तो बड़ी आयु पानेवाले थे। इनका शरीर धीरे-धीरे बढ़ रहा था। इनका मस्तिष्क भी धीरे-धीरे विकसित हो रहा था।

आप उन वनवासी बालकोंकी परिस्थितिका अनुमान नहीं कर सकते। वे बेचारे अभी युवा भी नहीं हुए थे कि उनपर उनके छोटे-भाई बहनोंका भार आ पड़ा था। उनके माता-पिता रहे नहीं थे। यह तो अच्छा था कि उन्हें दो-चार वर्ष और अपने समूहके किन्हीं परमायुप्राप्त वृद्ध एव वृद्धाओंका संरक्षण मिलता रहा।

बर्बर दस्युओंके सेवक तथा बचे स्त्री-पुरुष वनोंमें समूह बनाकर ही बसे थे। अपनी सुरक्षाके लिए उन्होंने इसे आवश्यक माना था। विपत्तिने उन्हें परस्पर स्नेह, सहयोग करना सिखला दिया था। उनमें संगठन दृढ़ हो गया था। अत: जब कोई शिशुओंको अनाश्रित छोड़कर मर जाता था तो दूसरे उन बच्चोंको पाल लेते थे।

इस परिस्थितिमें अवश्य कुछ बच्चे बच नहीं पाते थे; किंतु इस संकटने भी कई वरदान दिये। एक स्थानपर बसे लोगोंका लगभग एक परिवार बन गया और उनमें परस्पर सहायताकी प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी।

वनपशुओंमें भी अचानक बहुत परिवर्तन हो गया था। हिंस्र पशु भी कल्किके प्रभावसे शान्त हो गये थे। वे वनवासी लोगोंसे बन्धुओंके-जैसा व्यवहार करने लगे थे। वनवासियोंके बच्चे, जो वनमें ही उत्पन्न हुए थे, बचपनसे उनके साथ रहना, खेलना सीख गये।

प्रकृति अत्यन्त अनुकूल बन चुकी थी। भूकम्प और महामारी मानो पृथ्वीका मार्ग ही भूल गयीं। तरु-लताओंमें भरपूर फल-फूल आने लगे। इससे भी वनवासियोंके बालकोंका जीवन-संघर्ष सरल हो गया। आहारकी समस्या उनके सम्मुख नहीं आयी।

प्रतीपको जब पहले ये वनवासी मिले तो वे पिछले बर्बर बौने नहीं थे। वे उनकी संतान थे। युवक थे। प्रतीप या दूसरोंको भी जब-कभी उन

लोगोंने देखा, उनका आतङ्क अपरिचयजन्य था। वैसे भी प्रतीप तथा दूसरे लोग आकारमें उन लोगोंसे पर्याप्त बड़े थे। अतः यह वृहदाकार भी उनको आतङ्कित करता था।

उन सबोंने कल्किका बहुत भयावह वर्णन अपने वृद्धोंसे सुना था। कल्किको स्वयं तो देखा नहीं था। अतः किसी बड़े आकारके पुरुषको देखकर उसमें कल्किके होनेकी कल्पना होना स्वाभाविक थी; किंतु ये वनवासी पशु-पालन नहीं करते थे। कल्कि अश्वारूढ़ आते हैं आँधीके वेगके समान, यह इन्होंने सुना था। इनको जब प्रतीप या ऐसे ही कोई पुरुष दीखे तो वे पैदल थे। उन्हें दौड़ते भी इन्होंने नहीं देखा। अतः कल्किसे पार्थक्यका बोध इन्हें स्वतः हो जाता था।

केवल प्रतीपसे परिचयमें कठिनाई हुई थी। भगवान् व्यास तो इनकी भाषा जानते थे। उन्होंने स्वयं इनकी अनेक बस्तियोंमें पहुँचकर इन्हें प्रोत्साहित किया वनोंसे बाहर बसनेवाले लोगोंसे सम्पर्क बनानेके लिए।

वनोंमें भी ये वनपशुओंके साथ निर्भय व्यवहार करते रहे थे। किसी ब्राह्मण अथवा व्यापारीसे इनमेंसे कोई अकस्मात् कहीं मिल गया और दूरसे ही देखकर भाग नहीं गया भयके कारण तो मिलनेवालेसे इन्हें सहानुभूति मिली। आश्वासन तो मिला ही, अनेकबार कुछ उपहार भी मिला। वह उपहार वनवासीके लिए तो बहुमूल्य ही था। अतः वह जब अपने समूहमें पहुँचा, उसने वनसे बाहर बसनेवाले लोगोंकी भरपूर प्रशंसा की। अत्युक्ति भी कम नहीं होती ऐसी प्रशंसामें। वह तो मानता था कि उसे देवताके सम्पर्कका सौभाग्य मिला।

इस प्रकारके सम्पर्कोंने वनवासियोंको आश्वस्त किया। उनका आतङ्क दूर किया। उन्हें समुत्सुक बनाया बाहरके इन देव-पुरुषोंका दर्शन करनेके लिए।

दो-दो, चार-चार साहसी लोग वन्य पदार्थोंके उपहार लेकर पहले वनसे निकले। समीपबसे किसी ब्राह्मणकी कुटीर अथवा वैश्य-बस्तीतक गये। इस नीतिसे मिलना-जुलना प्रारम्भ हुआ। ब्राह्मणोंको तो तपसे अवकाश नहीं था। ब्राह्मणोंकी पत्नियाँ प्रायः उपहार स्वीकार नहीं करती

थीं; किंतु उनसे भी बहुत मृदुल व्यवहार प्राप्त होता था। उनका व्यवहार भी बार-बार आनेको उत्साहित करता था।

वैश्योंके यहाँ उपहार स्वीकृत भी हुए और उनके यहाँसे प्राप्त हुए। उन्होंने अपने समीप आकर बस जानेको प्रोत्साहित किया। उन्हें सेवकोंकी आवश्यकता थी और वैश्योंका वैभव, उनका रहन-सहन बड़ा भारी प्रलोभन था वनवासियोंके लिए।

स्वजनोंके सम्पूर्ण विरोधकी उपेक्षा करके जब कोई किसी वैश्यके समीप सपत्नीक या एकाकी आ बसा, उसकी सुखद परिस्थिति ही दूसरे भी उसके परिचितोंको खींच लायी। अवश्य ही ये वैश्योंकी बस्तियोंके पड़ोसमें पृथक् झोंपड़ियाँ ही बनाकर बसे।

ऐसे वनोंसे आये लोग संस्कारहीन होनेसे 'शूद्र' कहे गये; किंतु इन लोगोंका भी समाजमें ठीक सम्मान था। ये जहाँ सेवा करते थे, उस गृहके सदस्यकी भाँति ही रहते थे। इस नवीन प्रजाका आगमन उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

पुनः प्रारम्भ–

आर्य और अनार्य-जैसा कोई भेद नहीं था। आदिवासी और आगन्तुकका भेद सम्भव ही नहीं था। केवल दो भेद थे—एक सुरक्षित स्थलोंके संस्कार-युक्त लोग, जिनमें ब्राह्मण थे या वैश्य थे; दूसरे प्राचीन वर्बरोंके वनमें आ बसे लोगोंकी संतानें। इनमें भी कुछ समूह वनमें ही रह गये और कुछ बाहर आकर ब्राह्मणों अथवा वैश्योंकी सेवामें लग गये। ये उन लोगोंके परिवारके अभिन्न सदस्य हो गये और संतान-परम्परासे बहुत समयतक उन्हींके परिवारोंकी सेवामें संलग्न रहे।

क्षत्रियोंके तो केवल दो पुरुष आये थे कलापग्रामसे। उनमें प्रतीप प्रयागमें बसे थे और मरु अयोध्यामें। लेकिन इन दोनोंने कई-कई विवाह किये। ऐसे बहुविवाह तो ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र भी करते ही थे। संतान-वृद्धि उस समयकी आवश्यकता थी। अधिक संतानोंके माता-पिता समाजमें सम्मान पा रहे थे।

मरु और प्रतीपकी पत्नियोंसे अनेक संतानें हुईं। दोनों क्षत्रियोंने अपने बालकोंको दोनों कुलोंमें ही विवाह किया। उनके पुत्र जब युवा हुए, विवाहके पश्चात् पिताने उन्हें पत्नीके साथ पृथक् राज्य स्थापित करनेका आदेश देकर विदा कर दिया। ऐसे राजकुमार अपने साथ अपने सेवक-सेविकाएँ तो ले ही जाते थे, अपने कुलगुरुके किसी कुमारको भी प्रसन्न करके अपना पुरोहित बनाकर ले जाते थे। इस प्रकार उनके पृथक् राज्यकी स्थापना होती थी। वैश्योंको तो अपने व्यवहारसे आकर्षित करके उन्हें स्वयं बसाना था अपनी राजधानीमें।

एक ओर समाजकी यह स्थापना हो रही थी तो दूसरी ओर ब्राह्मणोंमें फिर मन्त्रद्रष्टा ऋषि होने लगे थे और वैश्यवर्गने भी कुछ धातुओंका उपयोग प्रारम्भ कर दिया था।

सृष्टिमें किसी भी समय सब अच्छा-ही-अच्छा, शुभ-ही-शुभ हो, यह सम्भव नहीं है। अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, सुख-दुःखके द्वन्द्व यहाँ

सदा साथ चलते रहते हैं; क्योंकि प्रकृतिमें किसी एक ही गुणकी सत्ता नहीं रहती। एक गुणका उत्कर्ष तो होता है; किंतु दूसरे दो गुण भी बने ही रहते हैं।

कलियुगके उत्कर्षकालमें सत्त्वगुणकी स्थिति सुरक्षित स्थलोंमें रही तो अब जब सतयुगका शुभारम्भ समीप आ गया रजोगुण और तमोगुणको आश्रयकी अपेक्षा हो गयी। इन्हें अब कहीं सघन होकर रहना था।

ममुष्य सात्त्विक हो गये। पशु-पक्षियोंमें भी सात्त्विकता संचरित हुई। अत: अब धरापर रजोगुण-तमोगुणका संतुलन कहाँ रहकर सुरक्षित रहेगा, इसकी व्यवस्था सृष्टिकर्ता बहुत पहले कर रखते हैं।

कलियुगके प्रारम्भमें ही सुरोंने पृथ्वीका प्राय: परित्याग कर दिया था। वे अधिकारी-विशेषकी आराधनासे संतुष्ट होकर उसे साक्षात्कार एवं शक्ति-सहायता देते रहे कलिके प्रथम चरणतक। आगे जब मनुष्यकी आस्थाका ही उच्छेद हो गया, आराधना लुप्त हो गयी। यदि कुछ शेष भी रही तो केवल प्रेत-पूजातक सीमित हो गयी। अत: सुरोंने धराकी उपेक्षा कर दी।

कलियुग-सतयुगके संधिकालमें ही भगवान् कल्किके अवतारके अनन्तर जब पृथ्वीपर सत्त्वगुणका उद्रेक हुआ, श्रद्धा सात्विक हुई, सुर साक्षात् मिलने लगे मनुष्योंसे। मनुष्योंसे सम्बन्ध-स्थापनमें उन्होंने अपना सम्मान माना। देव, गन्धर्व, नाग आदिकोंने स्वयं अपनी कन्याओंका विवाह किया ब्राह्मण या क्षत्रिय-कुमारोंके साथ। इस प्रकार मनुष्यका सुरोंसे सम्पर्क पुन: प्रारम्भ हो गया।

असुर भी धरापर त्रेताके अन्ततक जहाँ-तहाँ प्रबल रहे थे। द्वापरमें प्रत्यक्षरूपसे धरापर थोड़े ही स्थानोंपर रहे। उन्होंने अधिकांश राजकुलोंमें मनुष्यरूपसें जन्म लिया था; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रने अपने भू-भार हरणके क्रममें पृथ्वीसे असुरोंकी सत्ता ही समाप्त कर दी। द्वापरान्तके पश्चात् पृथ्वी-पर कोई सुर या असुर, उपदेवता नाग, वानर आदि भी नहीं रहे।

मनुष्यमें ही आसुरताका आधिक्य हो गया। मनुष्य ही इतना अल्प-प्राण, आस्थाहीन, पतित हो गया कि पृथ्वोका वातावरण असुरोंके भी

अनुकूल नहीं रहा। कभी-कहीं कलियुगके प्रारम्भमें असुर-शिशु उत्पन्न भी हुए तो यहाँके वातावरणकी विषाक्तता सहन नहीं कर सके; क्योंकि असुर सुरोंके अग्रज हैं। जन्मसिद्ध होते हैं। वे भी उपदेवता ही हैं।

अब सतयुगके आरम्भ होनेका समय समीप आया, धराका वातावरण शुद्ध हुआ तो सुरोंके समान असुरोंको भी पृथ्वीने आकर्षित किया। वे भी यहाँ बसनेको उत्कण्ठित हुए।

पृथ्वीपर पैर जमाये बिना तो कोई अमरपुरीकी ओर अग्रसर हो नहीं सकता। अतः अधोलोकोंके असुरोंको पृथ्वीपर आकर बसना आवश्यक लगा। वे आये और अनेक स्थानोंमें उन्होंने अपने तथा अपने स्वजनोंके आवास बना लिये। उनमें दैत्य, दानव, राक्षसादि–सभी असुरवर्गके लोग थे। उनके आवास पृथक्-पृथक् बने। गन्धर्व, नाग, किंनर, वानर, रीछ आदि उपदेवता ही क्यों पीछे रहते। उन्होंने भी अपनी बस्तियाँ स्थापित कीं।

असुरोंने, उपदेवताओंने भी एक सावधानी रखी। वे भारतवर्षसे दूर दूसरे द्वीपों, महाद्वीपोंमें बसे। उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक अगम्य स्थल अपनाये। ऐसे स्थल चुने अपने आवासके लिए, जहाँ मनुष्य दीर्घकालतक सरलतापूर्वक न पहुँच सके।

इस सावधानीकी बहुत अधिक आवश्यकता थी। उस समय मनुष्य भारतमें ही थे; किंतु दीर्घदर्शी असुर जानते थे कि भारतसे राजकुमार प्रवास करने लगेंगे और वे कहीं आ बसेंगे तो वहाँ उनके सेवक आवेंगे। वैश्य पहुँचने लगेंगे वहाँ। उनसे कभी-न-कभी सम्पर्क होगा और यह सम्पर्क संघर्षमें भी परिवर्तित हो सकता है।

पृथ्वीके मनुष्य—भारतीय मनुष्य कहना अधिक उपयुक्त होगा; क्योंकि तबतक केवल भारतमें ही मनुष्य थे। इन मनुष्योंमें ब्राह्मण ही नहीं, शूद्रतक सत्य-संकल्प होने लगे थे। ये शाप और वरदान दोनों देनेमें समर्थ थे।

सबसे अधिक भय भारतीय मनुष्योंकी स्त्रियोंसे था। इन सतियोंके शापसे तो भगवान् भी सुरक्षित नहीं रहे। इनके शापका कोई प्रतिकार

नहीं था और भारतीय नारी पतिव्रता ही होती थी। उसे किसीकी तनिक भी उच्छृङ्खलता सहन नहीं थी।

वर्रके छत्तेको छेड़नेकी धृष्टता कोई महामूर्ख ही करेगा। असुर और उपदेवता भी अपनी दुर्बलता जानते थे। सुर-असुर—सब स्वभावसे इन्द्रियाराम, अत्यन्त विलासी हैं। उनमें-से किसीके भी किंचित् असंयमसे क्रुद्ध भारतीय सती शाप देकर उनके सम्पूर्ण कुलको संकटमें डाल दे, इसकी अपेक्षा उत्तम था कि इन सबके सम्पर्कसे सर्वथा दूर रहा जाय। अधिक-से-अधिक समयतक इनके सम्पर्ककी सम्भावनाको टाला जाय।

पृथ्वीपर यदि असुर प्रबल होते हैं तो स्वर्गके लिए संकट समीप आ जाता है; क्योंकि असुर 'असंतोष चिरजीवी हो' के उद्घोषमें आस्था रखने वाले हैं। वे संतुष्ट हो जाना जानते ही नहीं। उद्योगी हैं, परिश्रमी हैं और अतर्क्य उग्र तप कर सकते हैं। पृथ्वी ही कर्मलोक है। पातालमें तो वे तप-साधन करते भी तो व्यर्थ होता, किंतु कर्मलोकमें वे जम गये तो उन्हें अमरपुरीपर अधिकार करनेमें कितना समय लगनेवाला था।

असुरोंके धरापर आकर आवास बनाते ही सुर सशङ्क हो गये। उन्होंने पहले अपने सहायक वानर, रीछ, गन्धर्वादिको पृथ्वीपर बस जानेको उत्साहित किया। फिर मनुष्योंसे सम्बन्ध साधा। जहाँ-कहीं अवसर मिला, तेजस्वी राजकुमारोंको अपना मित्र बनाया। ब्राह्मणोंको कम ही आकर्षित कर सके; क्योंकि वे निरपेक्ष थे, विरक्त थे और स्वर्गको हेय मानते थे। जो परमार्थकामी है, उस निःश्रेयसके अभीप्सुकी तो सुर भी बन्दना ही कर सकते थे।

सुरोंका स्वार्थ इसमें है, अमरपुरीकी सुरक्षा भी इसीमें है कि असुरोंको पृथ्वीपर पैर न जमाने दिया जाय। असुरोंकी उपेक्षा करके सुर निश्चिन्त रह नहीं सकते थे।

धरापर जहाँ सतयुग आसन्न था वहीं देवासुर-संघर्ष भी पुनः प्रारम्भ हो गया। कलियुगके आरम्भसे समाप्त हुए इस संघर्षकी परम्परा प्रारम्भ हो गयी।

असुर पराजित होकर मान जानेवाले नहीं थे और संघर्षमें सदा किसी एक पक्षकी विजय भी सम्भव नहीं। अनेक बार सुर हारे और असुरोंने अमरपुरी अधिकृतकी, यह पिछला इतिहास भी अपनी आवृत्तिके लिए पुनः प्रारम्भ हो गया।

मानव महान्-

अन्ततः कलियुगकी—कलियुग-सतयुगके संधिकालकी समाप्तिका भी समय आ गया। उस समयके अनेक ज्योतिर्विद ऋषियोंने खग्रास सूर्य-ग्रहणकी सूचना बहुत पहले की। साथ ही घोषणा की—'इस सूर्य-ग्रहणके समय ही सतयुगका श्रीगणेश होगा।'

यदावतीर्णो भगवान् कल्किर्धर्मपतिर्हरिः।
कृतं भविष्यति तदा प्रजासूतिश्च सात्त्विकी॥
यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती।
एकराशौ समेष्यन्ति तदा भवति तत् कृतम्॥

—श्रीमद्भागवत १२।२।२३-२४

धर्मके स्वामी श्रीहरि जब कल्किरूपमें अवतीर्ण होंगे, तब सतयुग होगा और सात्त्विक प्रजा उत्पन्न होगी।

इसमें 'यदा' का अर्थ कल्किके अवतीर्ण होनेके क्षणसे करना उपयुक्त नहीं है; क्योंकि कल्कि भगवान् करोड़ों नृपलिङ्गधारी दस्युओंका संहार करेंगे, यह बात भी भागवतके इसी स्थलपर आयी है। सतयुगका आरम्भ कल्कि भगवान्के अवतीर्ण होनेके पश्चात् होगा 'यदा' का तात्पर्य इतना ही लगता है।

जब चन्द्रमा, सूर्य और बृहस्पति पुष्य नक्षत्रके पहले चरणके प्रथमांश पर प्रथम पलमें एक साथ आवेंगे, तब सतयुगका शुभारम्भ होगा। यह सतयुगके आरम्भका समय सूचित किया गया।

बृहस्पति एक राशिपर बारह वर्षमें एक बार आते हैं। अतः हर बारह वर्षके अन्तरसे वे पुष्य नक्षत्रपर कर्क राशिमें भी आवेंगे ही।

एक राशिमें सवा दो नक्षत्र होते हैं। कर्क राशि-पुनर्वसु नक्षत्रके चतुर्थ चरणसे प्रारम्भ होकर पुष्य और आश्लेषा—इन दोनों नक्षत्रोंतक

रहती है। बृहस्पति एक राशिपर बारह महीने रहते हैं—अर्थात् सवा दो नक्षत्रोंके नौ चरणोका अतिक्रमण करनेमें उन्हें बारह महीने लगते हैं। इसका अर्थ है कि एक राशिके एक चरणपर बृहस्पति एक महीना दस दिन रहते हैं।

सूर्यको एक राशिपर केवल एक महीना रहना है और चन्द्रमा तो एक राशिपर केवल सवा दो दिन रहते हैं। अतः बृहस्पतिके किसी भी राशिपर रहते उस राशिपर सूर्य भी आवेंगे और सूर्यके रहते ही चन्द्रमा भी।

इस प्रकार प्रत्येक बारह वर्षपर जब बृहस्पति कर्क राशिपर आते हैं तो उस समय श्रावणकी अमावस्याको उसी राशिपर सूर्य और चन्द्रमा भी आते ही हैं; किंतु उस राशिके पुष्य नक्षत्रपर ही यह संयोग हो,यह आवश्यक नहीं है। उस समय यह संयोग पुनर्वसुमें या आश्लेषामें भी पड़ सकता है।

यह संयोग पुष्य नक्षत्रमें ही बने, यह बहुत वर्षों बाद ही सम्भव होगा और पुष्यके भी एक ही चरणपर तीनों एकत्र हों, यह तो और भी कठिन—बहुत देरमें बननेवाली बात है।

श्रीमद्भागवत इस एक चरणकी बात भी नहीं कहता। पुष्यके बृहस्पतिके साथ जब सूर्य और चन्द्र भी उसी एक राशिपर 'समेष्यन्ति' साथ साथ ही और भली प्रकार आवेंगे। इसका अर्थ है कि सूर्य, चन्द्र और बृहस्पति, तीनों जब एक साथ पुष्य नक्षत्रके प्रथम चरणपर प्रवेश करेंगे, उस प्रथम पलसे सतयुगका शुभारम्भ होगा।

वह श्रावण मास होगा; क्योंकि कर्क राशिके सूर्य तो श्रावणमें ही होंगे। सूर्य और चन्द्रकी युति अमावास्याको ही सम्भव है। इसलिये वह अमावास्या तिथि होगी।

क्योंकि सूर्य और चन्द्र एक नक्षत्रके एक ही चरणपर एक साथ आ रहे हैं, सूर्य-ग्रहण होगा और वह भी खग्रास सूर्य-ग्रहण होगा। इतनी बातें श्रीमद्भागवतके श्लोकसे ही स्पष्ट हो जाती हैं। फलित ज्योतिषकी ओर देखलें तो ऐसा सम्पूर्ण खग्रास सूर्य-ग्रहण युग-परिवर्तनका सूचक बनता है, यह बात भी स्पष्ट हो जायगी।

सूर्य-ग्रहणकी घोषणा इतना पहले हुई कि सूचना तो प्रायः सबको मिल ही चुकी थी; किंतु तब यात्रा पैदल, अश्वसे अथवा शकटोंके द्वारा ही सम्भव थी। अवश्य ही योगसिद्ध पुरुषोंने इसे परस्पर मिलनका अवसर माना। वे कुरुक्षेत्र पहुँचनेको प्रस्तुत हो गये।

बहुत-से ब्राह्मणोंने भी प्रस्थान किया। उन्हें ऐसा सुयोग सिद्ध योगियों और महर्षियोंसे मिलनेका सुलभ हुआ तो उसका त्याग क्यों कर देते; किंतु ब्राह्मणोंमें कम ही सपत्नीक चले। स्त्रियोंमें उत्सुकता बहुत थी, परन्तु उन्हें अपने गृह भी सँभालने थे। गृह-स्वामिनी होनेका गौरव इस अवसरपर बड़ा कष्टकर लगा।

वैश्य प्रायः सपत्नीक शकटों और अश्वोंसे चले। उन्होंने अपने साथ पर्याप्त सेवक भी ले लिये। तीर्थ-स्नान तो सुलभ होना ही था, व्यापारका—वस्तु-विनिमयका भी पर्याप्त बड़ा अवसर था और बहुत उपयोगी सूचनाएँ मिलनेकी भी सम्भावना थी।

मरु और प्रतीप—दोनों अपनी रानियों और सेवकोंके साथ पहुँचने ही वाले थे। दोनों कुरुक्षेत्र कई सप्ताह पहले पहुँच गये। उनके सेवक समीपके स्थानोंको स्वच्छ और समतल करनेमें लग गये।

ऐसे अवसरपर सुव्यवस्था करना शासकका दायित्व होता है। मरु और प्रतीपने इसमें कोई प्रमाद नहीं किया। उन्होंने पथ-निर्माण कराये और आपणकी व्यवस्था की। बहुत बड़ी संख्यामें उटज बनवाये आगत ब्राह्मणों, ऋषियों, योगसिद्ध तापसोंके लिए और सबको आहार—दूध तथा फल ठीक समयपर मिलता रहे, इसका भी सुप्रबन्ध किया।

ग्रहणके दिन-से पूर्व ही भगवान् व्यास पधारे। उसी दिन महर्षि दीप्तिमान्, गालव और ऋष्यश्रृङ्ग भी आ गये। इन ऋषियोंने समीप ही उटज लिये।

ग्रहणके दिन प्रातःकाल ही भगवान् परशुराम पधारे। मरुने उनकी पूजाकी। अभी यह अभ्यर्थना पूर्ण ही हुई थी कि एक ओरसे कृपाचार्य आ

गये। अचानक दूसरी ओरसे कातर स्वर आया—'क्या यह अधम तीर्थ-स्नानका अधिकारी है ?

'वत्स अश्वत्थामा !' भगवान् व्यास प्रथम उठे और पृथ्वीमें दण्डवत् दूर पड़े अश्वत्थामाको दौड़कर उन्होंने उठाकर हृदयसे लगा लिया। रोते अश्वत्थामाके मस्तक और पीठ पर हाथ फेरते बोले—'तुम पवित्र हो गये। पश्चात्तापसे बड़ा कोई प्रायश्चित्त नहीं। तुम्हारा प्रायश्चित्त पूरा हो गया। तुम आज-से ब्रह्मर्षि हुए।'

सभी उपस्थित ऋषियोंने यह व्यवस्था स्वीकार की। इसी समय आकाशसे उज्ज्वल अश्व उतरा। उस पर-से भगवान् कल्कि कूदे। उन्होंने परशुरामजीके पदोंमें प्रथम प्रणाम किया और फिर क्रमशः सबकी वन्दनाकी।

अचानक वह श्यामकर्ण दुग्धोज्ज्वल देवदत्त अश्व उच्चैःश्रवा आकाशमें उठा और सबके देखते-देखते अदृश्य हो गया।

'वत्स ! तुम्हारा कार्य सम्पूर्ण हो गया।' चकित कल्किकी ओर देखकर भगवान् व्यासने ही कहा—'धरा कलिके कलमष एवं कुत्सित जनोंसे स्वच्छ हो गयी।'

कल्किने एक शब्द भी नहीं कहा। वे वैसे ही मौन उठे। उन्होंने अपनी करवाल उठायी। कुरुक्षेत्रके राम (परशुराम) ह्रदमें स्नान करके उन्होंने वह तलवार धोयी और वैसे ही आर्द्र वस्त्र, आर्द्र शरीर चलते आये। भगवान् परशुरामके पदोंके पास उन्होंने वह करवाल धर दी। पृथ्वीमें पड़कर प्रणिपात किया।

भगवान् व्यासने मेघ-गम्भीर स्वरमें कहा—'कलियुगकी समाप्ति हो गयी। अब सबको स्मरण रखना है कि मानव सृष्टिकर्ताकी सर्वश्रेष्ठ कृति है, अतः उसका दायित्व भी सबसे बड़ा है। मानव महान् है। मानवसे श्रेष्ठ और कोई नहीं। अतः मानवको सृष्टिका पिता—पालक होकर रहना है। सब प्राणि-पदार्थ मानवकी करुणाके अधिकारी हैं। प्राणियों—चर-अचर सब प्राणियों तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि पदार्थोंका पोषण, रक्षण मानवका कर्तव्य है। मानवको इनमें-से किसीका अनावश्यक क्षय नहीं करना है।'

'साधु ! साधु !!' ऋषियोंने, योगसिद्धोंने एक साथ समर्थन किया। मरु तथा प्रतीपके लिए, उनके वंशधरोंके लिए, वैश्यों तथा शूद्रोंके लिए भी वह शाश्वत आदेश माना गया।

एक दिन जैसे सम्भलग्राममें महाभाग विष्णुयशके उटजमें उनकी पत्नीके सम्मुख भगवान् कल्कि प्रकट हुए थे, उसी प्रकार आज कुरुक्षेत्रमें समस्त ऋषियोंके मध्य, सबके सम्मुख ही वे अन्तर्हित हो गये।

आकाशमें उसी पल चन्द्रमा-सूर्यके साथ बृहस्पतिने पुष्य नक्षत्रके प्रथम चरणमें प्रवेश किया। ऋषियोंका समूह राम-ह्रदमें सूर्य-ग्रहणके स्पर्शका स्नान करने उतरा।

धरापर उस दिव्य क्षणमें सतयुगका शुभारम्भ हुआ।

॥ समाप्त ॥

आध्यात्मिक, धार्मिक मासिक-पत्र

श्रीकृष्ण-सन्देश

- प्रति महीने ६४ पृष्ठ।
- प्रति महीने १६ पृष्ठ भगवच्चरित।
- प्रति महीने गीता-व्याख्या।
- रोचक प्रसंग, महात्माओं-विद्वानोंके विचार पूर्ण लेख।

वार्षिक मूल्य १२/- आजीवन शुल्क १५१/- आजीवन ग्राहकके जीवनके बाद भी उसके उत्तराधिकारियोंको पत्र मिलता रहेगा।

वर्ष जनवरीसे प्रारम्भ।

व्यवस्थापक—
"श्रीकृष्ण-संदेश"
श्रीकृष्ण जन्मस्थान-सेवा-संस्थान
मथुरा-२८१ ००१

"यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्यपर उपलब्ध किये गये कागजपर मुद्रित-प्रकाशित है।"